हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीजका ४७ वाँ ग्रन्थ ।

साहित्य-मीमांसा ।

श्रीयुक्त पूर्णचन्द्र वसुकृत
साहित्य-चिन्ता नामक बंगला ग्रंथका अनुवाद ।

अनुवादकर्त्ता—
पं० रामदहिन मिश्र,
काव्यतीर्थ ।

प्रकाशक—
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई ।

आषाढ़ १९७८ विक्रम ।
जून १९२१ ।

प्रथम संस्करण ।] [मूल्य १।=) ।
जिल्दसहितका मूल्य १॥=) ।

भूमिका ।

समालोचना ही साहित्यकी श्रीवृद्धिका एक मात्र उपाय है। जिस साहित्यमें समालोचनाकी जितनी कमी होगी, उस साहित्यकी उतनी ही हीनता समझी जायगी। सुसज्जित मन्दिरमें सब प्रकारके सुखद सामान प्रस्तुत हों, पर प्रदीपके बिना जैसे उनका अस्तित्व बोध नहीं होता—जैसे उनका सौन्दर्य्य प्रस्फुटित नहीं होता, वैसे ही साहित्य-मन्दिरके अनेक रस-भाव-कल्पना आदि अद्भुत, अमित और अमूल्य पदार्थ समालोचना-प्रदीपके अभावसे सर्वसाधारणकी समझसे परे रहते हैं। समालोचनाहीसे साहित्यका अननुभवनीय सौन्दर्य्य प्रस्फुटित होता है, गौरव विकसित होता है और महत्त्व प्रकटित होता है। साहित्यके प्रचार और प्रसारमें समालोचना विशेष सहायक है।

अँगरेजी साहित्यका जो विश्वव्यापी प्रचार और प्रसार है उसके कारणोंमें समालोचनाका भी एक स्थान है। अँगरेज समालोचकोंने अपने साहित्यके अशेष सौन्दर्योंका सहस्र मुखसे प्रकाशकर उसका गौरव बढ़ाया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उसके सौन्दर्य और गुणसे मुग्ध होकर उसके अगणित भक्त हो गये हैं। कहते हैं कि शेक्सपियरके नाटकोंकी आलोचनामें अबतक शताधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और होती ही जाती हैं। कितने तो ऐसे हैं जिन्होंने शेक्सपियरके ग्रन्थ अभीतक देखे नहीं हैं, पर उनकी आलोचनाकी कई पुस्तकें पढ़ डाली हैं। इन समालोचना-ग्रन्थोंके अध्ययनके कारण वे मूल नाटकोंकी ऐसी व्याख्या कर सकते हैं, उनकी बारीकियों और खूबियोंके इस भाँति बतला सकते हैं और उनके भावोंको इस भाँति बोधगम्य करा सकते हैं कि मूल पुस्तकोंको दश बार पढ़नेसे भी कुछ नहीं करा सकते।

फिर कहिए तो अँगरेजी साहित्यका इतना प्रचार और आदर हो तो आश्चर्यकी क्या बात है ?

अँगरेजी सहित्यको जो सौभाग्य प्राप्त है वह आर्यसाहित्यको नहीं । अँगरेजी साहित्यकी जैसी समालोचना हुई है वैसी आर्यसाहित्यकी नहीं । जो समालोचना अबतक हुई है वह नहींके बराबर है । समालोचना न रहने-हीके कारण उसका अशेष सौन्दर्य प्रस्फुटित नहीं हुआ है । आर्यसाहित्यके यथेष्ट अध्ययन और अध्यापनके अभावसे उसकी सुन्दर समालोचना हो और उससे मानव-समाजका सुस्वभाव संगठित हो, इसकी अभी विशेष आशा नहीं की जा सकती ।

हमारे आर्य-साहित्यके उद्धार और प्रचारके इधर कई कार्य हुए हैं । कई पुस्तकोंके विदेशी भाषामें अनुवाद हुए हैं; कई पुस्तकों पर नये नये प्रबन्ध लिखे गये हैं और कई पुस्तकोंकी नयी टीका-टिप्पणियाँ प्रकाशित हुई हैं । इन सब कामोंके प्रभावसे यूरोपीयन विद्वानोंके हृदय संस्कृतकी ओर आकृष्ट हुए । शकुन्तलाका अनुवाद जर्मनीमें बड़े गौरसे पढ़ा गया । अब क्या पूछना है; उसके गौरव-गानका पुल बँध गया । गेटे आदि विद्वानोंने उसकी मुक्तक-ण्ठसे प्रशंसा की । पर विदेशी विद्वान् आर्यसाहित्यके सौन्दर्य्य और महत्त्वको उतना नहीं प्रकट कर सकते जितना कि स्वदेशी सहृदय विद्वान् । क्योंकि दोनोंके हृदयग्राही भावोंमें बड़ा अन्तर है । अतः स्वदेशी सहृदय समालो-चकों द्वारा आर्य-साहित्यका जो सौन्दर्य व्यक्त होगा वह अपूर्व ही होगा, इसमें किसीको कुछ कहना नहीं है ।

आर्य-साहित्यकी आलोचनामें अबतक जो नये ढंगकी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं वे * सर्वथा दोषशून्य नहीं हैं । क्योंकि कुछ पुस्तकें तो खण्डन-मण्ड-

---

* उदाहरणमें ये पुस्तकें लिखी जा सकती हैं । ये पुस्तकें अपने अपने वक्तव्यमें विशेष महत्त्व रखती हैं, पर उनसे मेरे वक्तव्यांशकी पूर्त्ति नहीं होती। रघुवंशविमर्श:, मेघसंदेशविमर्शः (संस्कृत–आर० वी० कृष्णमाचार्य), कविपञ्चक (मराठी–विष्णु कृष्णशास्त्री चिपळूणकर), कालिदास भवभूति (बँगला–राजेंद्रनाथ विद्याभूषण), कालिदास और भवभूति (बँगला–द्विजेंद्रलाल राय), हिंदीके कालिदास, नैषधीयचरितचर्चा, विक्रमाङ्कदेवचरितचर्चा, कालिदासकी निरङ्कुशता (हिन्दी–पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी),–निरङ्कुशतानिदर्शन (हिन्दी–पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी) आदि ।

नात्मक हैं और कुछ एकाङ्गीभावसे परिपूर्ण हैं। कुछ पुस्तकोंमें तुलनात्मक आलोचना ही नहीं है और कुछ अपने प्रतिपाद्य विषयमें प्रमाणशून्य हैं। कुछ पुस्तकें पक्षपातसे पूर्ण हैं और कुछमें यथार्थताकी कमी है। इसी तरह कुछ पुस्तकोंमें प्राचीन भावोंकी कमी है और कुछमें आधुनिकताकी अधिकता है। ऐसी पुस्तकोंसे आर्यसाहित्यकी समीचीन समालोचनाकी कैसे आशा की जा सकती है?

एक ऐसी पुस्तक है जिसमें न तो उपर्युक्त दोष ही हैं और न अभाव ही हैं। वह पुस्तक है श्रीयुत पूर्णचन्द्र वसुकृत "साहित्यचिन्ता"। उपर्युक्त प्रकारकी पुस्तकोंमें उसका स्थान विशेष महत्त्वका है। यह पुस्तक समालोचनात्मक ग्रन्थोंमें आदर्श स्थान ग्रहण कर सकती है।

इस पुस्तकके लेखक अपनी भूमिकामें लिखते हैं—"आर्यसाहित्यमें कितना सौन्दर्य है उसे कौन कह सकता है! मेरे विचारस्रोतमें जो कुछ सौन्दर्य्य-कुसुम खिले हुए थे उन्हींको चुनकर मैंने इस पुस्तकमें एकत्र कर दिया है। जिन्होंने अँगरेजी ढंगसे समालोचनाकी रीतिकी शिक्षा पाई है और जिन्हें साहित्यिक सौन्दर्य प्रकट करनेकी शक्ति प्राप्त है उनमें जो प्रतिभा-सम्पन्न हैं वे यदि इस क्षेत्रमें अवतीर्ण हों तो आर्यसाहित्यका सौन्दर्य-गौरव सबको दिखलाई पड़ सकता है। यह कौन कह सकता है कि आर्यकवियोंकी कल्पनाके मानसरोवरमें कितने स्वर्णकमल प्रस्फुटित हुए हैं? वे केवल दिव्यकन्या प्रतिभाके नेत्रोंमें ही उद्भासित हो सकते हैं। अर्जुनके समान मुझे देवदत्त दिव्य बल नहीं है जो प्रतिभाके उस दिव्य बलसे चिन्तास्रोतका अवलम्बनकर सैकड़ों स्वर्णकमलोंका संग्रहकर मातृभाषाके पदपद्मोंमें समर्पित करूँ।

"मैंने आर्यसाहित्यके आदर्शको स्पष्टरूपसे प्रदर्शन करनेके लिये किसी किसी स्थान पर अँगरेजी साहित्यके साथ उसकी तुलना की है। साथ ही साथ दोनोंकी तुलना करनेसे दोनोंके ही प्रकृतधर्म प्रकट हो गये हैं। जिसका प्रकृत धर्म बाहर किया जाय उसकी क्या मर्यादा-हानि होती है? यदि नहीं, तो मैंने किसी साहित्यकी मर्यादा नष्ट नहीं की है। ऐसा करना भी मेरा अभीष्ट नहीं है। हिन्दू होकर हिंदू-दृष्टिसे अँगरेजी साहित्यकी आलोचना अँगरेजी रूचिसम्पन्न व्यक्तिकी समालोचनासे भिन्न होगी, इसका सहज ही अनुमान हो सकता है। कार्यतः हुआ भी ऐसा ही है।......अँगरेजी कवि प्रकृतिका

नग्न सौन्दर्य देखना पसन्द करते हैं, पर आर्य कवि प्रकृतिमें देवसौन्दर्य देखना ही पसन्द करते हैं। सरोवरमें खिली हुई कमलिनीकी एक शोभा है और लक्ष्मी तथा सरस्वतीके चरणोंमें समर्पित कमलिनीकी एक और ही शोभा है। अँगरेजी कविके सौन्दर्य्यका वर्णन अँगरेजी समालोचकोंने सहस्रमुखसे किया है। पर वह मेरे वक्तव्यविषयके बाहर है। अतः मैंने उसका दिग्दर्शन नहीं कराया है। मेरे विषयके जो अन्तर्गत है उसके प्रकट करनेके लिये अँगरेजी साहित्यकी सहायता जितनी आवश्यक थी उतनी ही सहायता मैंने ली है"।

'साहित्य-मीमांसा' उपर्युक्त पुस्तकका ही अनुवाद है। इसके अनुवादमें मैंने स्वतन्त्रतासे काम लिया है। कहीं कहीं कुछ छोड़ दिया है, कहीं कहीं कुछ जोड़ दिया है और कहीं कहीं कुछ परिवर्तन कर दिया है। यह सब काम मैंने समय और समाजकी गतिमतिका विचार करके ही किया है। मैंने यत्र तत्र अपनी ओरसे यथावश्यक विषयबोधके लिये नोट भी दे दिये हैं। मेरा जहाँ तक खयाल है, यह ग्रंथ सचमुच ही हिंदी-ग्रन्थ-रत्नाकरका एक ग्रन्थरत्न होगा। साहित्यके अभ्युदयाभिलाषी अन्यान्य सहृदय विद्वान् भी इसी दृष्टिसे इसे देखकर अपनावेंगे।

मैंने बहुत दिन पहले इस पुस्तकको पढ़ा था। यह मुझे बहुत ही पसन्द आई थी। मैंने चाहा था कि पुस्तकको हिंदीमें लिख डालूँ, पर यह सोचकर हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा कि ऐसी पुस्तकको कौनसे प्रकाशक प्रकाशित करेंगे और कौनसे पाठक पढ़ेंगे जब कि उपन्यासका बाजार गर्म है।

प्रसन्नताकी बात है कि मुझे बहुत दिनोंतक समयकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। समयने पलटा खाया, पाठकोंका विचार बदला, लोगोंकी रुचि परिमार्जित हो चली और अच्छी अच्छी पुस्तकोंके पढ़नेका चाव बढ़ा। मैंने उपयुक्त समय देखकर उक्त पुस्तकके अनुवादकी सूचना हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकरके संचालक सहृदय श्रीनाथूराम प्रेमीजीको दी। उन्होंने इसके प्रकाशनका भार साग्रह ग्रहण किया। अतः वे मेरे तथा अन्यान्य हिन्दी प्रेमियोंके अशेष धन्यवादके भाजन हैं।

मैंने जिस मूल पुस्तकसे यह अनुवाद प्रस्तुत किया है वह बहुत पुरानी है। यहाँ तक कि उसके पत्रोंको कीड़ोंने "छिद्रशतैरलङ्कृताः' कर दिया है। मैंने इसके नये संस्करणको ढूँढ़ निकालनेकी बड़ी चेष्टा की, पर सफलमनोरथ न हो सका। अगर इसके नये संस्करणकी कोई प्रति मिलती तो संभव था कि मुझे इतना

परिवर्तन पुस्तकमें न करना पड़ता। अन्तमें अनन्यगति होकर अनुवादके लिये इसी पुस्तकका आश्रय मुझे लेना पड़ा।

मैं नहीं चाहता था कि यह पुस्तक मेरे नामसे निकले। क्योंकि बँगलाके अनुवादकी पुस्तकोंपर अपना नाम रखनेका मैं उतना प्रेमी नहीं। यही कारण है कि मैंने कई बँगला पुस्तकोंका अनुवाद किया, पर उन्हें अपने नामसे प्रकाशित नहीं होने दिया। किन्तु सूचीमें अपने नामके साथ इस पुस्तकका विज्ञापन देखकर मुझे अपना नाम पुस्तकपर रखना पड़ा। मुझे इस बातसे प्रसन्नता है कि बँगला अनुवादकी एक ऐसी पुस्तकपर मेरा नाम प्रकाशित हो रहा है जो हिन्दी-साहित्यके लिये गौरवकी चीज होगी। किमधिकम्।

—रामदहिन मिश्र।

साहित्य किसे कहते हैं। *

साहित्य शब्दका अर्थ बड़ा जटिल हो गया है। साहित्य शब्दके नाना अर्थ किये जाते हैं और तदनुसार ही यह शब्द काममें लाया जाता है। इससे इसका ठीक ठीक भाव बतला देना आवश्यक है।

साहित्यग्रन्थोंके नाम लेनेपर साहित्यज्ञ झट कह उठते हैं—साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश, रसगङ्गाधर, इत्यादि। उनसे यदि यह पूछा जाता है कि रघुवंश, कुमारसंभव आदि क्या हैं? तो वे कहते हैं कि वे काव्य हैं। उनसे यदि यह प्रश्न किया जाय कि वे साहित्यग्रंथ हैं कि नहीं? तो वे आगापीछा सोचने लगते हैं। यद्यपि वे देखते हैं कि उपर्युक्त तीनों ग्रन्थोंमें प्रतिपाद्य विषय एक ही है और साहित्य, काव्य और रस शब्दको लेकर उन तीनोंके नाम रक्खे गये हैं, तो भी वे उल्लिखित काव्योंको साहित्य नहीं कहेंगे। कहें कैसे? वे तो काव्य और साहित्यको भिन्न समझते हैं। पर सच पूछिये तो साहित्य शब्द रस, गुण, रीति, अलङ्कार आदिके निर्णायक ग्रन्थमें एक प्रकारसे रूढ़ हो गया है। इसीसे काव्य-ग्रन्थको साहित्य-ग्रन्थ कहनेमें पण्डित लोग प्रायः हिचकिचाते हैं।

यही दशा काव्यकी भी है। काव्य कहनेसे अनेक लोग प्रायः पद्य ही समझते हैं। यद्यपि वे समझते हैं कि गद्य पद्य दोनों ही काव्योंके अन्तर्गत हैं,

---

* 'साहित्य-मीमांसा' पढ़नेके पूर्व साहित्य क्या है, यह जाननेके लिये, यहाँ कुछ लिखना अनावश्यक नहीं होगा। अतः मैं 'सरस्वती' में प्रकाशित अपना यह लेख उद्धृत कर देता हूँ। इस लेखमें साहित्य शब्दकी अच्छी मीमांसा की गई है।—अनुवादक।

तथापि यदि संस्कृत या हिंदी-गद्यकी कोई छोटी मोटी पुस्तक उनके सामने रख दी जाय तो वे उसे, वह कितनी ही भावभरी और रसभरी हो, काव्य कहनेसे प्रायः मुख मोड़ते हैं। हिंदीके कुछ ज्ञाता जहाँ कहीं चमत्कृत पदावली देखते हैं, फिर उसमें कुछ भाव हो या न हो, उसे कविता ही समझते हैं। पर गद्य कैसा ही सुन्दर हो—कैसा ही भावमय हो–उसे लोग न कविता कहेंगे और न उसके बनानेवालोंको कवि ही कहेंगे।

यह अन्धपरम्परा बहुत दिनोंसे चली आती है। सच पूछिये तो साहित्य और काव्य एक ही चीज है। उसमें कुछ भेद है तो केवल नाम मात्रका। किसी भाषामें हो, किसी शैलीमें हो, किसी रूपमें हो, गद्यमें हो या पद्यमें, रसवती रचना ही साहित्य और काव्य कहाती है।

अच्छा तो साहित्य क्या चीज है—साहित्य कहनेसे समझा क्या जाता है? सहितशब्दसे ष्यञ्प्रत्यय करनेसे साहित्य शब्द बनता है। इस शब्दके प्रकरणानुसार कई अर्थ होते हैं। (१) **साहित्यं मेलनम्।** (२) **परस्परसापेक्षाणां तुल्यरूपाणां युगपदेकक्रियान्वयित्वम्**—इति श्राद्धविवेकः। (३) **तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वं बुद्धिविशेषविषयित्वं वा साहित्यम्**—इति शब्दशक्तिप्रकाशिका। (४) **मनुष्यकृतश्लोकमयग्रन्थविशेषः साहित्यम्**—इति शब्दकल्पद्रुमः। साहित्य शब्दके इतने अर्थ होने पर भी यथार्थतः निर्दोष शब्दार्थ, गुण, रस, अलङ्कार, रीतिविशिष्ट विषयको ही साहित्य कहते हैं। इसीका दूसरा नाम काव्य भी है। पहलेमें काव्यप्रकाशादि और दूसरेमें रघुवंश आदि हैं। एक अनुशासक है, दूसरा अनुशिष्ट। पहला साहित्य शब्दसे और दूसरा काव्य शब्दसे व्यवहृत होता है।

साधारणतः साहित्यशब्दका यह अर्थ होता है–**सहितस्य भावः साहित्यं**—अर्थात् साथका जो भाव है वही साहित्य है। जो संयुक्त, संहत, मिलित, परस्परापेक्षित, और सहगामी है, उसके भावका नाम साहित्य है।

साहित्यका एक अर्थ सहगमन तो हुई है। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि जो हितके साथ वर्तमान है वह हुआ सहित और उसका जो भाव है वह हुआ साहित्य। अर्थात् जो हमारे हितकारी भाव हैं वही साहित्य है। इस अर्थके अनुसार काव्य, इतिहास, पुराण, भूगोल, दर्शन, गणित आदि सभी साहित्यके अन्तर्गत आजाते हैं। इतिहासोंमें ऐसे ही अर्थमें साहित्य शब्द

प्रयुक्त हुआ है। जैसे लिखते हैं कि अमुकके राज्यकालमें साहित्यकी दशा अच्छी रही। इससे नाना प्रकारके ग्रन्थोंकी रचना ही सूचित होती है।

अब साहित्यकी कुछ व्याख्या सुनिये। हम लोगोंकी आत्मा चिदानन्दस्वरूप है। प्रीति, स्नेह, दया और भक्ति ही सात्विक भावोंकी अवस्थायें हैं। इन भावोंके प्रकाशनमें प्रकृत काव्य ही हमारी सहायता करता है। आत्मासे प्राणित जो कोषत्रयात्मक सूक्ष्म शरीर है उसमें हम श्रेष्ठकाव्योंके अनुशीलनद्वारा सद्भावोंका संग्रह कर सकते हैं। काव्य लोकोत्तरानन्दका दाता है। यद्यपि हम दर्शन आदिसे ज्ञानोपार्जनकरके ज्ञानी हो सकते हैं पर आनन्द और सौन्दर्यके साम्राज्यपथपर लेजानेवाला काव्य ही है।

दर्शन और विज्ञान साहित्यके अन्तर्गत हैं अवश्य; पर वे हमारे प्रकृत साहित्य नहीं कहे जा सकते। क्योंकि ज्ञानकी अपेक्षा आनन्दजनक भाव ही प्रधानता रखता है। सत्य ही भावरूपसे हृदयमें प्रस्फुटित होता है। जो कुछ सत्य, शिव और सुन्दर है उसका अनुभव भाव-मुग्ध मनुष्य अपने अन्तर्हृदयसे करता है। जिसकी प्राप्तिका उपाय ज्ञान बतलाता है वह भावहीसे प्राप्त होता है। भाव भीतर ही भीतर हमें लोकोत्तर ज्ञानकी प्राप्तिके योग्य बना देता है, पर ज्ञान नहीं। वेद भी यही कहता है—'आनन्द ही ज्ञानका सार है।' क्योंकि विज्ञानमय कोषके भीतर ही आनन्दमय कोष है। उस आनन्दका मूलकारण भाव है। भावव्यञ्जक होनेके ही कारण हमारे काव्यको प्रधान और प्रथम स्थान मिला है। आधुनिक दर्शन, विज्ञान, इतिहास आदिका स्थान उसके पीछे है। श्रेष्ठ भाव ही हमारे सूक्ष्म शरीरका पोषक है। भाव ही द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है और भाव ही द्वारा वह ज्ञानमें परिणत होता है। भाव प्राप्तिके लिए भावनाकी आवश्यकता होती है। फिर—"**यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।**"

मतलब यह कि श्रेष्ठभाव ही हमारा सहगामी और सदाका साथी है। सुन्दर भावोंका जहाँ संग्रह है वही काव्य है और वही हमारा प्रधान साहित्य है। सभी भाव हमारे लिए हितकर नहीं। जो भाव हमारे प्रकृत सहायक और प्रकृत हितकर हैं, उन्हीका संग्रह साहित्य है। अच्छे कवियों और ग्रन्थकारोंके ग्रंथोंमें श्रेष्ठ भाव-रत्न भरे रहते हैं। उनसे उपादेय आध्यात्मिक भावोंका संग्रह करके हम अपने सूक्ष्मशरीरको पुष्ट कर सकते हैं। अतएव ऐसे ही ग्रन्थ प्रकृत साहित्यके पोषक हैं।

जिन जिन भावोंका संग्रहकर हम अपनेको उत्तम और उन्नत बना सकते हैं, जिनका अवलम्बन करके हम अपने परमपुरुषार्थके लिए गन्तव्य पथपर अग्रसर हो सकते हैं, तथा जिनके ऊपर हमारा मनुष्यत्व अवलम्बित है उन्हींका संग्रह साहित्य है। जिनसे चित्त सानन्द स्वच्छ और निर्मल होकर क्रमशः परम लाभका अधिकारी हो सके वही हमारा साहित्य है। आजकल ऐसे ही साहित्यकी अत्यन्त आवश्यकता है।

एक जातिके सहित्यके साथ दूसरी जातिके साहित्यका कुछ सम्बन्ध नहीं रहता। रहता भी है तो नाम मात्रके लिए ही। प्रत्येक जाति और प्रत्येक समाजका ज्ञान और भाव-भाण्डार भिन्न भिन्न प्रकारका होता है। जो जाति जैसी होती है उसका साहित्य भी वैसा ही सङ्गठित होता है। किसी जातिविशेषकी गति और उन्नति जाननेके लिए उसका साहित्य पढ़ना पड़ता है। उस साहित्यके साथ उस जातिका घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। साहित्यमें उस जातिकी भलाई बुराई, उन्नति अवनति, अच्छी तरह प्रतिबिम्बित रहती है। यदि हम लोग अपना जातीय भाव नष्ट नहीं करना चाहते तो हमें उचित है कि हम अपने जातीयसाहित्यकी रक्षा करें। जातीय जीवनके सङ्गठनके लिये जातीय साहित्यकी रक्षाकी बड़ी आवश्यकता है।

विषय-सूची।

साहित्यका आदर्श।

साहित्यमें रक्तपात।

साहित्यमें प्रेम ।

देवत्व ।

साहित्यमें प्रेम ।

पशुत्व ।

साहित्यमें प्रेम ।

मनुष्यत्व ।

साहित्यमें वीरत्व ।

साहित्यमें देवत्व।

साहित्य-मीमांसा ।

साहित्यका आदर्श ।

आर्य साहित्यकी प्रकृति

धर्मप्राण आर्यजातिने साहित्यमें भी धर्मकी ही जयघोषणा की है। व्यासने विशाल महाभारत बनाकर पतिप्राणा गान्धारीके मुँहसे कहलाया है—

'यतो धर्मस्ततो जयः'

जहाँ धर्म है, वहीं जय है। वह पद्यार्ध किसको कण्ठस्थ न होगा जिसमें उन्होंने भगवान्‌का कीर्तन करके बड़े प्रेमसे कहा है—

'जयोऽस्तु पाण्डुपुत्राणां येषां पक्षे जनार्दनः'

जिनके पक्षमें स्वयं भगवान हैं, उन पाण्डवोंकी जय हो। सारांश यह कि जिन्होंने भगवानका आश्रय लिया है या जो भगवानके आश्रित हैं, उनकी जय हो। यह केवल कहने भरके लिये नहीं है; बल्कि, इसकी यथार्थता सभी जानते हैं। महाभारतमें वही धर्मपक्ष, वही भगवदाश्रित देवपक्ष प्रबल हुआ है। उसमें मनुष्यका पापचित्र भी विशद भावसे दिखलाया गया है।

कहिये तो भला, कुरुपक्षके चित्रकी अपेक्षा कौन चित्र विशद है ? किन्तु, उसकी अपेक्षा भी एक अत्यन्त विशद चित्र है। वह चित्र है कृष्ण भगवान्‌की साक्षात् सहायताका आश्रय, पाण्डवपक्षका धर्मपक्ष । इस चित्रकी समुज्ज्वल प्रभाके सामने वह पापाचित्र फीका पड़ गया है। धर्मकी जयसे पापका सत्यानाश हो गया है—वह एकदम जड़मूलसे उखड़ गया है। पवित्र कुरुक्षेत्र नामक धर्मक्षेत्रमें पापने पूर्ण रूपसे अपना अस्तित्व खो दिया है ।

एक और विशाल चित्र वाल्मीकिका है। वाल्मीकिका महाकाव्य भक्तिका एक सुविस्तृत महादेश है। उसमें भी धर्म-की ही विजय है। धर्मकी विजय-पताका अयोध्यासे लेकर लङ्काके प्रान्त देशतक उड़ रही है ।

राक्षसकुल इतना प्रबल होने पर भी भगवद्भक्तिकी तरल तरङ्गोंमें विलीन हो गया है। रामपक्षका पुण्यमय राज्य, क्या अयोध्यामें और क्या लंकामें, सर्वत्र ही प्रतिष्ठित हुआ है। रामराज्यके समय हिमालयसे लेकर कन्याकुमारी अन्तरीप क्या, लङ्काकी शेष सीमा पर्यन्त पुण्यका क्षेत्र बन गया। दण्डकारण्यमें भी राक्षसोंका भय न रहा। अरण्यके एक भागमें तपस्या करनेवाला शूद्र भी रामचन्द्रके स्पर्शसे निष्पाप हो मुक्त हो गया है। *

* रामायण और महाभारतसे हमें केवल धर्मोपदेश ही नहीं मिलता। इनमें जैसी राजनीति है वैसी ही समाजनीति भी है, और जैसी लोकनीति है वैसी ही धर्म-नीति भी है। हमें इन दोनों विशाल ग्रन्थोंसे सब प्रकारकी नीतियोंकी शिक्षा मिलती है। ये दोनों केवल महाकाव्य ही नहीं हैं, बल्कि भारतके चिरकालिक इतिहास भी हैं।

अब पौराणिक काव्योंको छोड़कर साहित्यके प्रकृत क्षेत्रमें आइये। यहाँ भी वही दृश्य वर्तमान है। जिस क्षेत्रके अध्यक्ष कालिदास, भवभूति, माघ, भारवि, श्रीहर्ष आदि महाकवि हैं, वहाँ भी धर्मकी ही तूती बोल रही है। कालिदासने अपनी अनुपम लेखिनीसे कुमारसम्भवका कैसा अपूर्व धर्ममय चित्र अङ्कित किया है! उसमें पार्वतीकी वह तपस्या, हिमालयका वह शिवानुराग कैसा असाध्य-साधन है! उसके उज्ज्वल आलोकसे समग्र काव्य आलोकित हो रहा है। और शकुन्तला—विश्वविख्यात शकुन्तला! उसकी तो कोई बात ही न पूछिये। जिसके चित्रसे सारा संसार मुग्ध है उस शकुन्तलमें ही किसका चित्र है? उसमें ऋषिके आश्रमका चित्र है, शकुन्तलाकी उस सहृदयताका चित्र है जिससे आश्रमके सारे पशुपक्षी प्रेममें लवलीन हो गये थे। और है शकुन्तलाके उस प्रगाढ़ प्रेमका चित्र, जिस प्रेमने प्रबल पतिभक्तिमें परिणत होकर उसे तपस्विनी बना डाला। उसमें उस दुष्यन्तका भी धर्ममय चित्र है जिसने अपने प्रबल धर्मानुरागके कारण आप-से आप आई हुई प्रेममयी पतिपरायणा शकुन्तलाको आत्म-

---

इससे इनमें हमारे लिये युगयुगान्तरकी समादरणीय सामग्री भरी पड़ी है। इनके पढ़नेसे पिताके प्रति पुत्रकी वश्यता, भाईके लिये भाईका आत्मत्याग, प्रजावर्गके प्रति राजाका कर्त्तव्य, भ्रातृविरोधका दुष्परिणाम, देशजयकी कामना, असाधारण अध्यवसाय, उचित मार्गका अनुसरण आदिके ज्वलन्त दृष्टान्त हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। हजारों वर्ष पहले इन दोनोंसे भारतमें जैसी शान्ति और शक्तिकी धारा बहती थी, वैसी ही आज भी बह रही है। यहाँ लेखककी धर्मविषयक उक्ति एकाङ्गिनी है। पाठक यह न समझें कि इनमें धर्ममात्रकी ही चर्चा है, और कुछ नहीं है। अनुवादक।

विस्मृतिके कारण प्रत्याख्यान कर दिया और उसके लुभावने लोचनोंसे अपनेको विवश नहीं होने दिया। यह क्या सब लोगोंसे सम्भव है? फिर जिस समय शकुन्तला उनके स्मृतिपथमें अवतीर्ण हुई, उस समय की उस धर्मकातर दुष्यन्तके दग्ध हृदयकी कारुणिक उक्तियाँ किसका हृदय द्रवित न कर देंगी? कालिदास उस धर्मानुतापका चित्र 'चित्रदर्शन' वाले अङ्कमें उज्ज्वल वर्णोंमें अङ्कित कर गये हैं *। यदि आप उससे भी उज्ज्वलतर धर्मानुतापका चित्र देखना चाहते हों तो भवभूतिके छायावाले अङ्कमें देखिये †। उस अङ्कमें रामके भग्न हृदयका पूरा प्रतिबिम्ब देख पड़ेगा। इन समस्त चित्रोंको देखकर कहिये कि आर्य साहित्यके पढ़नेसे आपका हृदय धर्मानुरागसे परिपूर्ण होता है या नहीं। आपका हृदय करोड़ों कलङ्कोंकी कालिमासे कलुषित क्यों न हो, उसमें अवश्य ही आर्य साहित्यके पढ़नेसे धर्मानुराग उत्पन्न होगा ही। धर्मकी ओर वह कुछ न कुछ विचलित होगा ही ‡। आर्य साहित्यके अध्ययनका फल ऐसा ही सुन्दर, ऐसा ही उत्कृष्ट, ऐसा ही शान्तिपूर्ण और ऐसा ही विशुद्ध है।

---

* शकुन्तला नाटकका छठा अङ्क देखिये।

† उत्तररामचरितका तीसरा अङ्क देखिये।

‡ केवल धर्मकी ही ओर नहीं वर्णाश्रम मर्यादाकी ओर भी। संयमी, धीर और सच्चरित्र पुरुष तथा स्नेह, दया, वात्सल्य आदि मधुर भाववाली नारीके अनुकरणकी कामना भी सहजमें ही आर्य साहित्यके अध्ययनसे सर्वसाधारणके हृदयमें उत्पन्न हो सकती है, इसमें सन्देह नहीं। अनुवादक।

आर्य्य और अँग्रेजी साहित्य

क्या युरोपीय या अँग्रेजी साहित्य पढ़नेका भी फल वैसा ही है? जो आदर्श आर्य साहित्यका गौरव और प्राण है जिस आदर्शने उस साहित्यको संसारका शिरोभूषण बनाकर सौन्दर्य्यसे परिपूर्ण किया है वह उच्चादर्श, वह धर्मनैतिक सुन्दर आदर्श क्या हम अँग्रेजी साहित्यमें देखते हैं? हम यह नहीं कहते कि उसमें मानवसमाज या मानवप्रकृतिका चित्र नहीं है। किन्तु क्या वह चित्र धर्मगौरवसे वैसाही पूर्ण है जैसा कि आर्यसाहित्यका है? यह बात नहीं है कि अँग्रेजी साहित्यमें स्थल स्थलपर धर्म-सौन्दर्य न हो। किन्तु वह इतना प्रच्छन्न है कि उसका आलोक वैसा प्रस्फुटित नहीं होता जैसा होना चाहिए। सघन वनके एकान्त भागमें एक कुसुमित मालती जैसे अपना सौन्दर्य लेकर विलीन हो जाती है, कण्टकपूर्ण कानन-में एक सुन्दर वृक्ष जैसे अपनी मनोहरता प्रकट नहीं कर सकता और हिंसक पशुओंके भयानक स्वरसे परिपूर्ण जंगल-में मधुरभाषी पक्षीके मनोहर स्वरका जैसे पता नहीं मिलता, वैसेही अँग्रेजी साहित्यमें स्थान स्थानपर वर्णित धर्म-सौन्दर्य्यका मर्म स्पष्ट नहीं होता। युरोपियनोंको इस बातका अभिमान है कि हमही प्रकृतिके चित्रकार हैं। उनके कहनेका अभिप्राय यह है कि प्राच्य साहित्यमें प्रकृति-चित्र है ही नहीं। प्रकृति-चित्र आर्य साहित्यमें भी है और अँग्रेजी साहित्यमें भी। किन्तु दोनोंमें भेद है। अँग्रेजी साहित्यमें जिस प्रकृतिकी मूर्ति नग्न है, वही आर्य्य-साहित्यमें अलंकृत है। अँग्रेजी साहित्यमें मानव-

प्रकृतिका पाशव तथा आसुरिक प्रवृत्तिमें ही गौरव है और आर्य-साहित्यमें उसी प्रकृतिकी देवतुल्य भावोंमें उत्कर्षता है। मानव प्रकृति देवभावसे समुन्नत होकर किस प्रकार सुन्दर हुई है, यही आर्य-चरित्रमें दिखलाया गया है। उसी सौन्दर्य-में उसका आसुरिक भाव भी प्रच्छन्न हो गया है। किन्तु अँग्रेजी-साहित्यमें ठीक इसके विपरीत है। अँग्रेजी-साहित्यमें मानव प्रकृतिके पाशव भावों और ऐन्द्रिक प्रवृत्तियोंकी इतनी प्रधानता है कि उसमें उसका देवभाव एक दम छिप गया है। विलायती काव्य-साहित्यके जो सर्वप्रधान और अँग्रेज जातिके गर्वस्वरूप हैं, उन्हीं शेक्सपीयरके नाटकोंकी आलोचनामें यह स्पष्ट किया जायगा। उनके काव्यविशेषकी समालोचना न की जायगी; किन्तु उनकी समूची नाटकावलीके पढ़नेका जो परिणाम निकलता है उसीकी बातें यहाँ लिखी जायँगी।

शेक्सपियर और मानव प्रकृति

शेक्सपियर पाश्चात्यं जगतके जनसमाज और मानव प्रकृतिके चित्रकार थे। वे केवल चित्रकार ही नहीं थे बल्कि महा-कवि भी थे। उन्होंने उस जनसमाजके आचार-व्यवहार, रीति-नीति आदिका सजीव चित्र खींचा है। वह चित्र इतना प्रशस्त, इतना यथार्थ, इतना मर्मोद्घाटनकारी है कि देखनेसे मालूम होता है कि जैसे फोटोग्राफसे वह चित्र खींचा गया हो। उनके नाट-कोंके सभी पात्र सजीव हैं। यह काम साधारण शक्तिका नहीं है। कवियोंकी प्रधान सम्पत्ति (Tragedy) वियोगान्त नाटक है। इन दृश्य काव्योंमें उनकी असाधारण शक्ति देख पड़ती है। वे इन

राज्योंमें केवल चित्रकार ही नहीं हैं बल्कि उनमें उनकी सृष्टि-रचनाकी चातुरी भी ज्वलन्त रूपसे विद्यमान है। वे नाटक काव्य-रससे सराबोर और सृष्टिचातुर्यसे चमत्कृत हैं। इसीसे उनके यशके प्रधान कारण वियोगान्त नाटक ही हैं। संयोगान्त और वियोगान्त नाटकोंके रचनाकौशलमें उनकी समता करनेवाला काव्य-संसारमें कोई यूरोपीय कवि नहीं हुआ। उनके सर्वमान्य वियोगान्त नाटकोंके सम्बन्धमें ही मेरा वक्तव्य है।

शेक्सपियर मानव प्रकृतिका चित्र खींचनेमें कहाँतक कृतकार्य हुए हैं और सब जगह इस विषयमें उन्हें सफलता मिली है या नहीं, इसका विचार करना मुझे अभीष्ट नहीं है। किन्तु वे जिस बातके लिये युरोपमें विख्यात हैं, उसी बातका उल्लेख मैंने ऊपर किया है। मानव प्रकृति और जनसमाजके चित्र खींचनेमें वे असाधारण कवि समझे जाते हैं। एक समालोचक उनके चित्रित किये हुए मानव-प्रकृतिके ज्योंके त्यों चित्रपर मोहित होकर बोल उठा था:—

"O Nature ! O Shakspeare? Which of ye drew from the other!"

"हे प्रकृति ! हे शेक्सपियर ! तुम दोनोंमें कौन किसका प्रतिबिम्ब है" !

उन्होंने यदि मानव प्रकृतिका तत्तुल्य चित्र खींचा है तो वह चित्र किस प्रकारका है, यही अब विचारणीय विषय है। मानव प्रकृति दोष गुणका आधार है—उसमें पशुत्व, मनुष्यत्व और देवत्व, तीनों ही विद्यमान हैं। आहार, निद्रा, रोग, शोक, काम, क्रोध आदि शत्रुओंके साथ रहनेके कारण मनुष्य पशु-तुल्य है। बुद्धि,

विद्या, विचारादिसे सम्पन्न मनुष्यमें मनुष्यत्व है। और दया, दाक्षिण्य, भक्ति आदि गुणोंसे मनुष्य देवतुल्य समझा जाता है। इन तीनों गुणोंके कारण—इन्हीं सत्व, रज और तमोगुणके कारण—मानव प्रकृतिका संगठन होता है। ईसाई धर्मानुसार मनुष्यमें पापांश ही अधिक है। जनसमाजके अधिकांश लोगोंमें श्रेष्ठ गुणोंकी बहुत कमी है। समाजके अधिकांश व्यक्ति राजसिक और तमोगुणी हैं। इससे जनसमाजके अधिकांश लोग निर्मल-चरित्र नहीं हैं। जो उस मानव प्रकृतिके यथोचित चित्र खीचेंगे वे उस समल प्रकृतिको और भी समल बनाकर खींचेंगे। और जिस जनसमाजका चित्र खींचना होगा उसको राजसिक और तामासिक साधारण जनसमाजका ही रूप देना होगा। ऐसा न करनेसे मानव प्रकृति और जनसमाजका तत्तुल्य चित्र हो ही नहीं सकता। युरोपीय जनसमाज जिन सब विशेष गुणोंका आधार है, उसमें जिस प्रकार रजोगुण और तमोगुणका विकाश हुआ है, उसीके प्रकृत चित्रकी प्रत्याशा युरोपीय कवियोंके चित्रमें की जा सकती है। शेक्सपियरमें यदि प्रकृतिका यथार्थ ही प्रतिबिम्ब पड़ा होगा तो यह कहा जा सकता है कि उनके चित्रित किये हुए चित्रोंमें मानव प्रकृति और जनसमाजके आलोक-अन्धकार और दोष-गुण ठीक ठीक चित्रित हुए होंगे। आलोक-अन्धकार और दोष-गुण ठीक उसी परिमाणसे प्रतिबिम्बित हुए होंगे जिस परिमाणसे प्रकृतिमें विद्यमान होंगे। उनमें न कमी होगी और न बेशी। यदि परिमाणमें न्यूनाधिकता हो तो प्रकृतिका यथार्थ चित्र अङ्कित नहीं हो सकता। युरोपीय जनसमाज

और लोकचरित्रमें जिस परिमाणसे और जिस प्रकारसे विशेष दोषगुणोंका समावेश है, शेक्सपियर उन्होंकी प्रतिकृति हैं। उस समय क्रिस्तानोंके मतसे मानव-प्रकृति जितनी ही पाप-मलिन होगी उतनी ही मलिनता शेक्सपियरमें भी होगी। किन्तु शेक्सपियर केवल चित्रकार नहीं थे। वे सृष्टिकर्ता भी थे। फिर उन्होंने किसकी सृष्टि की है?

प्राच्य और पाश्चात्य कवियोंका सृष्टिभेद

जिन्होंनें जनसमाजका बिन्दु बिन्दु करके पर्यवेक्षण किया है और इस प्रकार किया है कि उसका चित्र फोटोग्राफरके समान खींच सकते हैं, उन्होंने अवश्य देखा होगा कि उसमें दोष-का ही अधिक भाग है। कवि संसारका शिक्षक है। कवि किस प्रकार शिक्षा देगा? जिससे जनसमाजमें उस दोषकी न्यूनता हो, इसीका उपाय उस शिक्षादाता कविको करना होगा। जनसमाजमें अधिकतर सत्वगुणका कैसे समावेश होगा, इसका निर्णय करना कविका काम है। उसी उपायका अवलम्बन करनेके कारण कवि जगतका गुरु कहला सकता है। इस उपाय-भेदमें ही प्राच्य और पाश्चात्य कवियोंमें भेद है। इसी उपाय करनेमें कवि सृष्टिकर्ता और शिक्षक है। पाश्चात्य कवियोंने जैसी सृष्टि करके शिक्षा दी है, प्राच्य कवियोंने वैसा नहीं किया है। प्राच्य कवि दूसरे ही संसारके विधाता हैं। एकने मानव समाजके रजोगुण और तमोगुण-को अधिकतर उज्ज्वल करके दिखाया है कि इसका कुफल कितना भयानक है। और दूसरेने सत्वगुणको ही सब प्रकार

समुज्ज्वल करके उसी ओर मानव समाजको आकृष्ट किया है कि सात्विक संसार किस प्रकार सुखका आगार है। एकने घोर नरककी सृष्टि करके उसकी दुःखलीला दिखाते हुए जनसमाजको पापसे अलग रखनेकी चेष्टा की है और दूसरेने स्वर्गके सौन्दर्य्य और सुखकी ओर सर्वसाधारणकी दृष्टि खींचकर उन्हें उसी राज्यमें लानेका यत्न किया है। पाश्चात्य कवि शेक्सपियर नरक और उसकी यन्त्रणाके सृष्टिकर्ता हैं और व्यास-वाल्मीकि पुण्यमय पवित्र स्वर्गके सृष्टिकर्ता हैं। बहुत दिन पहले वे लोग अपना अपना सृष्टिकौशल दिखा गये हैं। किन्तु उनमें इस समय कौन कवि अधिकतर कृतकार्य हुआ है, यह बात जनसमाजके फलाफल देखनेसे निश्चित हो सकती है। हिन्दू जनसमाज और यूरोपीय जनसमाज, दोनोंमें कौन अधिकतर धर्मशील, अधिकतर सात्विक भाव-सम्पन्न और अधिकतर दया, दाक्षिण्य, क्षमा, भक्ति आदि गुणोंसे परिपूर्ण है? किस जनसमाजकी धर्मप्रवृत्ति प्रबल है? इसका उत्तर होनेसे ही उन कवियोंके फलाफलका भी निर्णय हो जायगा।

पाश्चात्य कवियोंका सामान उनकी सृष्टिके अनुकूल है। उनका सामान वियोगान्त नाटक है। वियोगान्त नाटकोंकी रचना-प्रणाली ऐसी है जिसमें नरकोंकी सृष्टि की जा सकती है और उनके दुःख-दाह और यन्त्रणायें दिखाई जा सकती है। वियोगान्त नाटक आसुरी सृष्टिके लिये जितना उपयोगी हैं उतना दैवी सृष्टिके लिये नहीं। इसका कारण यह है कि उसमें मानवीय प्रचण्ड पाशव प्रवृत्ति इतनी प्रबल बना दी जाती है कि उसका परिणाम रक्तपात हो जाता है। प्रायः यह प्रचण्डता

इतनी प्रबल हो जाती है कि उसे हम अमानुषिक भी कह सकते हैं। हम संसारमें प्रबल शत्रुताके जो दृष्टान्त देखते हैं उनमें विरले ही रक्तपात देख पड़ता है। जनसमाजमें रक्तपातका बहुत ही कम मौका मिलता है। जहाँ अधिकसे अधिक जनसंघट्ट है वहाँ भी सालमें दो ही चार खून होते हैं। इस खून खराबीका कारण या तो लोभ है, या विद्वेष है, या वैरसाधन है या स्त्री पर सन्देहजनित क्रोध है। ये ही सब मानुषी सीमा पारकर रक्तपातमें परिणत हो गये हैं। शेक्सपियरने इन्हीं सांसारिक दृष्टान्तोंको लेकर वियोगान्त नाटकोंकी सृष्टि की है। लेडी मैकबेथ, लार्ड मैकबेथ, उथेलो और इयागो, रोमियो और जूलियट, ब्रूटस और रिचर्ड*आदि उनकी अमानुषिक सृष्टि— वियोगान्त नाटकोंके साधन हैं। उनके साथ साथ नाटककी यन्त्रणा और दुःख-दाह है। इस सृष्टिमें रिपुकी प्रबलता आसुरी सीमाको पहुँच गई है। श्लिगल् (Schlegel) ने कहा है कि लेडी मैकबेथ एक राक्षसी (Female Fury) है, क्योंकि वैसा साहस, वैसी विश्वासघातकता और निर्दयता केवल राक्षसोंमें ही सम्भव है। इसी लेडी मैकबेथने एक स्थान पर कहा है कि जिसे मैंने अपने थनका दूध पिलाया है, आवश्यकता पड़नेपर मैं उसका सिर भी चूर चूर कर सकती हूँ। हमारी पूतनासे इसका कितना सादृश्य है! पूतना भी तो स्तन पिलाकर ही न कृष्णको मारने गई थी? उतनी ही विश्वासघातकता

* शेक्सपियरके प्रसिद्ध नाटकोंके ये प्रधान पात्र हैं। इनकी पूरी कथा जाननेके लिये इनके नाटकोंके हिन्दी अनुवाद और शेक्सपियर कथा गाथा नामक पुस्तकें देखनी चाहिएँ। आगे भी इनके नाटकोंके कई पात्रोंके नाम आवेंगे।

और उतनी ही देवद्रोहिता पूतनामें भी तो थी। जिस आसुरी प्रेममें पागल होकर सुन्दरी जूलियटने रोमियोको, अनेक प्रकारके वाक्छलसे आत्मप्रकाश कर, अपनी यौवन-लालसाका परिचय दिया था वह यदि उसी प्रकार राम वा लक्ष्मणके समान किसी व्यक्तिके निकट जाती तो उसकी क्या दशा होती ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह दूसरी शूर्पणखा हो जाती। शूर्पणखा-ने विफल-मनोरथ होकर समराग्नि प्रज्वलित कर दी थी और जूलियटने भी आत्मघात कर लिया था। सामान्य कारणसे इयागोका चातुरी जाल मानुषी सीमाको इतना पार कर गया था कि उसके अन्नदाता उथेलोको स्त्रीहत्यासे अपने हाथको कलङ्कित करना पड़ा था। क्या रिचर्डने यह नहीं कहा था कि जब प्रकृतिने ही मुझे विकलाङ्ग बनाया है तब मैं कर्तव्यमें भी असुर हो सकता हूँ ?

"Since I can not prove a lover

× × × ×

I am determined to prove a villain"

शेक्सपियरने यथार्थतः उसे असुरका ही रूप दिया भी है। इससे बढ़कर और क्या कहा जाय ?

केवल शेकसपियरके ही ये आसुरिक आदर्श नहीं हैं। अँग-रेजी श्रव्यकाव्यके सर्वश्रेष्ठ महाकवि मिल्टनने ही अपने महा-काव्य (Paradise Lost) में क्या आदर्श दिया है ? बहुतसे पाठकोंने मिल्टनका कुछ अंश पढ़ा होगा। मैं पूछता हूँ कि उसके पढ़नेकी कैसी स्मृति पाठकोंके हृदयमें जाग्रत है ? मैं समझता हूँ कि उनके हृदयमें शैतान (Satan) की भीषण

आसुरिक मूर्तिके अतिरिक्त और कोई मूर्ति वैसी न जाग्रत होगी। मिल्टनके महाकाव्यमें शैतान ही सर्वशक्तिमान् होकर सब जगह कार्य कर रहा है। तीनों लोक उसका कर्मक्षेत्र हैं। उसकी अपरिमेय शक्ति और कौशलने परमेश्वरकी सृष्टिमें घोर विप्लव मचा दिया है। जो परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है वह मिल्टनके महाकाव्यमें न जाने कहाँ छिपा पड़ा है, उसका पता ही नहीं है। शैतानका प्रचण्ड विक्रम, आसुरिक शक्ति और भीषण देवद्वेष ही काव्यमें प्रधानतः प्रादुर्भूत हुआ है। देवद्रोहिताके पुतले शैतानके प्रलोभनमें पड़कर "आदम और हौवा"* किस प्रकार पापमें अनुरक्त हुए और उसका फलाफल क्या हुआ—पापका यह विषमय परिणाम दिखानेके लियेही मिल्टनने इतना तूल कलाम किया है। मिल्टनके मनमें मानव प्रकृतिका जो तमोमय मलिन भाव था, उसी प्रकृतिको चित्रित करनेके लिये मिल्टनका महाकाव्य है। जब उनका यही उद्देश्य है तब वे देवभाव क्यों दिखलाने लगे? जिस प्रकृतिका प्रभूत बल आसुरिक प्रवृत्तिको ही प्रबल करता है, जिस अदम्य कुप्रवृत्ति पर किसी नैतिक शासनका प्रभाव नहीं पड़ सकता, उसी पापमय प्रकृतिका चित्र मिल्टनने खींचा है। जिस कुरुपक्षमें गदाधारी असुर-प्रकृति दुर्योधन ही सर्वेसर्वा है, जिसकी प्रबलतासे लोभी द्रोण और कर्ण अधीन होकर अपने सामरिक बलको यथेच्छ कार्यमें लाते हैं, किसीका नैतिक शासन

---

* मिल्टनका महाकाव्य अत्यन्त अद्भुत और रोचक है। कथा भी बड़ी विचित्र है। उसी महाकाव्यके आदम और हौवा धर्मप्राण प्रधान पात्र हैं। कहते हैं कि सृष्टिके आदि व्यक्ति माने जानेवाले आदम और हौवा ही इनमें वर्णित हैं। अनुवादक।

और किसीका उत्तम परामर्श ही नहीं मानते—गान्धारी, विदुर, भीष्म और धृतराष्ट्रकी बातें न जाने हवामें कहाँ उड़ जाती हैं, उस असुर-बल-प्रधान कुरुपक्षने देवद्रोही बनकर और धर्मके विरुद्ध पक्ष लेकर महाभारत ऐसे घोर संग्रामसे पृथ्वीको डगमगा दिया है। यह जो महाभारतका भयङ्कर चित्र है वह मिल्टनके महाकाव्यके उपर्युक्त चित्रमें किसी प्रकार कलङ्कारोप नहीं कर सकता।

आर्य-साहित्यमें सृष्टिकी सम्पूर्णता

इस पापपूर्ण संसारका चित्र खींचना अधिक कठिन नहीं है क्योंकि पापपूर्ण संसार तो सर्वत्र ही देख पड़ता है। जिधर नजर दौड़ाओ उधर ही पापकी कलाङ्कित मूर्ति देख पड़ेगी। वही मूर्ति देखकर उसका चित्र खींच लो। शेक्सपियर केवल ऐसा ही चित्र खींचकर सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने उसमें अपनी भी बड़ी करामात दिखाई है। उन्होंने ऐसे ही चित्रोंसे लेडी मैकबेथ आदिकी सृष्टि की है। ऐसी आसुरिक सृष्टि सामान्य संसारमें नाम मात्रकी ही है।

आर्य कवियोंने इसका ठीक उल्टा मार्ग पकड़ा है। उन्होंने धर्मकी ही असाधारण मूर्ति दिखलाई है। आप कह सकते हैं कि धर्मकी जो मूर्ति सर्वत्र ही देख पड़ती है, साहित्य-में उसका चित्र खींचनेसे क्या प्रयोजन ? एक बार आँख उठा-कर देखनेसे ही वह मूर्ति चारों ओर दिखलाई पड़ जायगी। किन्तु ऐसी बात नहीं है। साहित्यमें जो चित्र अङ्कित हो जायगा वह सदा सर्वदाके लिये रह जायगा। उस चित्रमें

असामान्य रूपका समावेश होना चाहिये। उस असामान्य रूपकी सृष्टि एक सामान्य चित्रका रूप देखकर ही करनी होगी। इसी अमानुषी रूप-सृष्टिका आदर्श आर्य कवियोंने तिलोत्त-मामें दिखाया है। जैसे तिलोत्तमा बाह्य सौन्दर्यकी सृष्टि है वैसे ही आर्य साहित्यके सभी आदर्श मानसिक सौन्दर्यकी सृष्टि हैं। तिलोत्तमाकी रचना शेक्सपियर नहीं कर सकते, यह बात नहीं है। उन्होंने कई तिलोत्तमाओंकी रचना की है। उनकी तिलोत्तमा मिरण्डा "Of every creature's best" रोसेलिंड और हार्मियन है। किन्तु मानसिक सौन्दर्य्यकी तिलोत्तमा बनानेमें वे आर्य कवियोंसे हार गये हैं। उनकी मिरण्डा शकु-न्तलाके सामने हार गई है। उनकी रोसेलिंड, हार्मियन, इस्सा बेला और हेलना असामान्य सौन्दर्यकी सृष्टि नहीं हैं। अपने वियोगान्त नाटकोंमें उन्होंने तिलोत्तमाकी सी सृष्टि करते करते लेडी मैकबेथ आदि अनेक असुरोंकी सृष्टि कर डाली है। रोमियो, जूलियट, इयागो, उथेलो, मैकबेथ, गैनोरिल, जान, रिचर्ड दि थर्ड आदि यदि न होते तो वियोगान्त नाटकोंका ऐसा भयङ्कर चित्र और रक्तपात कभी सम्भव था? हमारे साहित्यमें भी ऐसे भयंकर असुरोंकी सृष्टि है, किन्तु वे असुर नामसे ही कलंकित हो गये हैं। वे धर्मद्वेषी और देवद्रोही प्रसिद्ध हैं। मिल्टनके काव्यमें एक ही प्रचण्ड राक्षसकी सृष्टि है; किन्तु हमारे दोनों महाकाव्योंमें वैसे न जाने कितने असुर वर्तमान हैं। वृत्रासुर, तारकासुर, रावण आदि न जाने कितने राक्षसोंने देवद्रोही होकर अनेकानेक उत्पात मचाये हैं। किन्तु उनके साथ ही साथ असुरनाशक देवताओं, गन्धर्वों

और धर्मवीरोंकी भी सृष्टि हुई है। इससे सर्वसाधारणकी दृष्टि असुरोंसे खिंचकर देवताओंकी ही ओर लग जाती है। इससे धर्मकी जीत होती है। आर्य साहित्यमें धर्मकी ही विजय उज्ज्वल वर्णोंमें अंकित की गई है। यदि शत्रुकी उन्मत्तता और पापके पराक्रमको मूर्तिमान बनाकर दिखलाना महाकवियोंका परिचायक है तो उसके साथ साथ जितेन्द्रियता और धर्मको भी मूर्तिमान बनानेसे क्या कोई महाकवि नहीं हो सकता? मानव प्रकृतिको जैसे एक ओर उज्ज्वल दिखाना उचित है वैसे दूसरी ओर भी उसे समुज्ज्वल करके दिखाना उचित है। ब्रह्माण्डके चित्रमें केवल शैतानको मूर्तिमान बनाकर दिखानेसे क्या लाभ? उसके साथ भगवानकी आठों विभूतियों * और उनकी सौम्य मूर्तिकी शोभा भी दिखाना सर्वथा उचित है। तभी तो ब्रह्माण्डकी समग्र शोभा और उसकी भीषण मूर्ति जाज्वल्यमान होगी। आर्य साहित्यमें इसी प्रकारकी सम्पूर्णताका सौन्दर्य है। उसमें पुरुषके पास ही प्रकृति भी शोभित रहती है। उसमें मूर्तिके दोनों ही भाग समान भावसे उज्ज्वल हैं। शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग समान ही परिमाणके हैं और उनमें समान ही विकाश है। उसमें न तो बिना सिरके शरीरकी सृष्टि है और न अङ्ग विशेषसे हीन प्रकाण्ड शरीरवाले राक्षसकी ही सृष्टि है। शेक्सपियरमें असुरनाशक चित्रोंकी भी सृष्टि है पर वह वैसी उज्ज्वल नहीं है जिससे मैकबेथके ऊपर मैकडफ या बैंकोकी प्रधानता

* अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। अनु०

हो । रिचर्ड थर्ड, जान आर्थिका प्रतियोगी चित्र कहाँ है ? उनकी सरीखी आसुरिक कृष्ण मूर्तियोंकी सृष्टि तो असाधारण है पर उनके विपरीत उज्ज्वल मूर्तियोंका चित्र बहुत ही सामान्य है । कहनेका अभिप्राय यह है कि कृष्ण-कलेवरवाले ही अधिक मूर्तिमान हैं । पापकी घोर घटामें धर्म एकदम छिप गया है ।

पुण्यादर्शकी आवश्यकता और उत्कर्ष

पापकी घृणित मूर्ति और उसका भीषण परिणाम दिखाकर मनुष्योंको पाप-पथसे निवृत्त करनेका यह एक उत्तम उपाय है, यह कहकर यूरोपीय वियोगान्त नाटकोंकी आसुरिक सृष्टिका समर्थन किया जा सकता है । अस्तु, हम उस बातका विचार छोड़ देते हैं कि इस उपायसे पापका कहाँ तक निवारण हो सकता है । मान लीजिये कि वियोगान्त नाटकोंके पढ़नेसे वैसा ही सुफल फलेगा । इतना होनेसे ही क्या हुआ ? मनुष्योंको पापसे निवृत्त कर देनेसे ही सब कुछ हो जायगा ? मनुष्योंकी पारमार्थिक क्षुधाकी परितृप्ति कैसे होगी ? जिस परमार्थकी लालसासे मनुष्य संसारको शोभित करता है— शान्ति और अमृतकी धारा बहाता है, मनुष्यकी वह पारमार्थिक लालसा ही सबसे प्रबल है । मानवीय अन्तःकरण ही दया, दाक्षिण्य, प्रेम, क्षमा, स्नेह, भक्ति आदिका आधार है । इनकी परितृप्ति करनेके लिये मनुष्य सदा व्यस्त रहता है । इस दशामें जेलका भय दिखानेसे ही तो काम न चलेगा । मनुष्योंको धर्मात्मा बनाना ही होगा । सद्वृतियोंके तृप्ति-साधन-

का उपाय क्या है ? क्या उसके लिये धर्मादर्शकी सृष्टि करना आवश्यक नहीं है ? एक परम पवित्र पुण्यात्मा मनुष्यका चरित्र पढ़नेसे जितना परितोष और आनन्द उत्पन्न हो सकता है, मन जितना आकृष्ट हो सकता है, क्या उतना आनन्द और परितोष पाप-चरित्रके भीषण परिणामसे कभी हो सकता है ? धनी-मानियोंकी उदारता और दानवीरोंकी महत्तासे मन जितना मोहित होता है—अन्तःकरणमें जितनी स्फूर्ति होती है, उतनी क्या और किसी बातसे हो सकती है ? पाप-कण्टक दूर करके मनुष्योंके मानसमें सुबीज बोनेका उपाय पुण्यकी पवित्रता और धर्मका आदर्श दिखलाना है।

पापकी घृणित मूर्ति सदा-सर्वदा देखनेसे जैसे मनमें पाप बैठता है वैसे ही धर्मकी पवित्र ज्योतिको बार बार देखनेसे मनकी मलिनता दूर होती है और उसमें पुण्यका सञ्चार होता है। धर्ममय युधिष्ठिर और रामके चित्रकी सर्वदा कल्पना करनेसे क्या मन पवित्र नहीं होता ? सब लोगोंमें राम और युधिष्ठिरकी पवित्रता विद्यमान नहीं है। मनुष्योंके पुण्यमय चित्र असाधारण सौन्दर्यसे भले ही परिपूर्ण क्यों न हों तथापि मानव समाज राम और युधिष्ठिरके आदर्शसे उन्नत ही हो सकता है, अवनत नहीं। पुण्यका आकर्षण, पवित्रताका सौन्दर्य और धर्मका प्रकाश ऐसा ही है कि मनुष्य उनकी ओर झुके बिना रह ही नहीं सकता। मनुष्य-समाज पुण्यके आकर्षणसे आकृष्ट, पवित्रताके सौन्दर्यसे मुग्ध और धर्मके प्रकाशसे प्रकाशित होगा ही। मानव प्रकृतिमें देव-भावका जो समावेश है उसीके साथ इस आकर्षण-शक्तिका

सम्बन्ध है। यदि यह बात नहीं है तो फिर हजारों वर्षोंसे पौराणिक धर्मबल किस प्रकार हिन्दूसमाजको परिचालित कर रहा है ? उसकी पवित्रताकी कैसे रक्षा कर रहा है ? आज भी हिन्दू-समाज असाधारण धर्म-भावसे परिपूर्ण है।

साहित्यमें अलौकिक साधन

जो सर्वसाधारण नहीं है वही अलौकिक है। असामान्य और अलौकिक न होनेसे साधारण मनुष्योंको कोई विषय तुरन्त ही भूल जाता है। जो सदा सर्वदा दृष्टिगोचर होता रहता है उससे अधिक चित्ताकर्षण नहीं होता। जो असामान्य और अद्भुत है विशेषतः उसीसे चित्ताकर्षण होता है और वह अधिक दिनों तक स्मरण भी रहता है। जो सर्वसाधारणकी कल्पनासे बाहर है वही कविकी सृष्टिके भीतर आ जाता है। इससे कविकी सृष्टि अद्भुत होती है। अद्भुतको और अधिक अद्भुत तथा चिरस्मरणीय बनानेके लिये कवि प्रकृतिकी सीमाका कुछ उल्लङ्घन कर जाता है और उसमें अलौकिकता आ जाती है। लेडी मैकबेथ अलौकिकताका एक निदर्शन है। उथेलोका चित्र भी कुछ अस्वाभाविक है। वैसे ही रिचर्ड थर्ड, गौनोरिल, ब्रूटस, जान आदि भी हैं। महाकाव्यकी रचनामें अप्राकृतिक वा अमानुषिक कल्पना कुछ अधिक देख पड़ती है; क्योंकि अत्यन्त अद्भुत न होनेसे वह चिरस्मरणीय नहीं हो सकता।

मिल्टनके शैतानकी कल्पना अत्यन्त अद्भुत रससे परिपूर्ण है। अत्यन्त अद्भुत होनेके कारण ही वैसी सृष्टि मानवी

कल्पना पर पूरा पूरा अधिकार जमाये हुई है। आदम और हौवा-की सरलता और पवित्रता वैसी ही अद्भुत है। मिल्टनके नरकका चित्र जैसा अद्भुत और विस्तृत है, वैसा स्वर्ग या पैरेडाइजका वर्णन नहीं है। इसीसे उनका नरकचित्र ही अधिक स्मरणीय हो गया है।

पापके अमानुषिक चित्रका यही एक दोष है कि मिल्टनके शैतानकीसी उसकी विशालता, उच्चता और गम्भीरतामें मन इतना मुग्ध हो जाता है कि उसको जितना घृणित बनाना अभीष्ट होता है उतना वह नहीं होने पाता। क्योंकि उसकी विशालता और अद्भुततासे कुछ न कुछ मनोरञ्जन हो जाता है। शैतानकी अद्भुत और विशाल कल्पनामें मन मुग्ध हो जानेके कारण जैसा चाहिए वैसा वह घृणित प्रतीत नहीं होता। यद्यपि वह शैतान पापकी मूर्ति है तथापि उसकी उस मूर्ति पर परदा पड़ जाता है। किन्तु अलौकिक पुण्य-चित्रके देखनेसे ऐसा कुफल नहीं फलता। पुण्यका चित्र ही सर्वसाधारणके लिये मनोरञ्जक है। यदि उसमें अद्भुत रसका सञ्चार हो जाय तो उससे दूना मनोरञ्जन होता है। उस पुण्य-चित्रमें भूलकर भी कोई यह विचार नहीं करता कि यह चित्र प्राकृत है वा अप्राकृत। अलौकिक पुण्यकी पवित्रतामें दर्शकों-का मन इतना मुग्ध हो जाता है कि प्राकृताप्राकृतका विचार मनमें स्थान ही नहीं पाता। यों भी कह सकते हैं कि यह भाव मनमें उदित ही नहीं होता। वह पवित्रता उनकी कल्पना पर सदा अधिकार जमाये रहती है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मनुष्योंकी पशुवृत्तियाँ हैं।

दया, दाक्षिण्य, श्रद्धा, भक्ति, आदि उनकी दैवी वृत्तियाँ हैं। काम, क्रोधादिकी अद्भुत कल्पना आसुरिक और दया, दाक्षिण्य आदिकी कल्पना दैवी है। पाश्चात्य साहित्यमें इसी आसुरिक कल्पनाकी समृद्धि है। उसकी अधिकतामें दिव्य कल्पना प्रच्छन्न और मलिन हो गई है। किन्तु आर्य साहित्यमें ठीक इसके विपरीत है। उसमें मनुष्योंकी पाशविक प्रकृति दिव्य प्रकृतिकी सुन्दर छटामें छिप गई है। रामकी पुण्य-प्रभाका प्रभाव मानवी कल्पना पर इतना पड़ता है कि रावणके चित्रका स्मरण ही नहीं होता। न मालूम वह पापान्धकारमें कहाँ छिप गया है! भरत और रामके प्रगाढ़ प्रेमसे मन इतना आर्द्र हो जाता है कि कैकेयी और मन्थराके चित्र घृणित मालूम होने लगते हैं। उनकी पाप-कल्पना भरत और राम, सीता और कौशल्याके चरित्रको अधिक उज्ज्वल बनाकर पापके घनान्धकारमें लीन हो गई है।

रामचन्द्र और युधिष्ठिरमें जैसा अलौकिक धर्मादर्श है वैसाही भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेवमें अलौकिक भ्रातृप्रेम है। परशुराम और पुरुमें भी पितृ-भक्ति अलौकिक ही थी। परशुराम तो पितृभक्तिके अवतार ही मालूम पड़ते थे। उसी पितृभक्तिसे प्रेरित होकर उन्होंने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके निमित्त माताको मारनेमें भी सङ्कोच नहीं किया था। किन्तु वे माताको प्राणदान देनेकी शक्ति रखते थे और उन्हें ऐसी आशा भी थी। इसीसे वे मातृहत्यामें प्रवृत्त हुए थे। वस्तुतः उन्होंने फिर माताको जीवित कर भी दिया था। इस दृष्टान्तसे सर्वसाधारणके मनमें

पिताकी आज्ञा पालनेका गौरव बढ़ाना ही कविका मुख्य उद्देश्य है। इसमें सन्देह नहीं कि यह उद्देश्य अच्छी तरह सिद्ध हो गया है। महाकाव्यका रचना-चातुर्य्य दिखलानेके लिये ही अद्भुत घटनाका समावेश किया जाता है। इसीसे अद्भुत रसमें गाम्भीर्य आता है। जिस प्रकार मिल्टनकी शैतान-सृष्टि अद्भुत रचना है उसी प्रकारकी अद्भुत रचना हमारे काव्योंमें भी है। ऐसा न करनेसे रसकी परिपुष्टि ही नहीं हो सकती। पितृभक्तिकी अलौकिक परिपूर्णता दिखानेके लिये ही मातृहत्याका वैसा काण्ड कल्पित किया गया है। परशुराम-ने उसी पितृभक्तिसे उत्तेजित होकर इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रिय-हीन कर दिया है। पाँचो पाण्डव तो मातृभक्तिके अवतारही हैं। पितरोंके प्रति प्रीति होनेके कारण ही भगीरथने कैसा असाध्य साधन किया है। हमारे आर्य साहित्यमें पतिभक्तिके अनेकों दृष्टान्त हैं। सती, पार्वती, गान्धारी, द्रौपदी, सीता, सावित्री, कौशल्या, सुमित्रा, कुन्ती, दमयन्ती, अरुन्धती आदि अगणित पतिव्रतायें हैं। उनका अलौकिक प्रेम भक्तिमें परि-णत हो गया था। कर्ण, बलि और हरिश्चन्द्र दानवीर थे, अलौकिक सत्यपालक थे रामचन्द्र, और असामान्य ब्रह्मचारी थे लक्ष्मण।

आर्य साहित्यमें एक ओर इन सब पवित्र धर्मादर्शोंका सौन्दर्य है और दूसरी ओर आसुरिक सृष्टिमें पापकी घृणित मूर्ति और भीषण परिणाम है। एक ओर पापका दमन और दूसरी ओर पुण्यका उदय, ऐसे द्विविध चित्रोंसे सम्पन्न होकर आर्य साहित्यके आदर्श जिस प्रकार सर्वसाधारणको पाप-

के पथसे निवृत्त करते हैं वैसेही पुण्य-पथमें प्रवृत्त भी करते हैं। वे आदर्श मनुष्योंको केवल निष्पाप ही नहीं करते बल्कि उन्हें देवता बना देते हैं। इसकी अपेक्षा और क्या उच्च आदर्श हो सकता है, यह समझमें नहीं आता।

यह देखिये, आर्य साहित्यकी एक क्षुद्र घटनाका एक यह हमारी उक्तिका कैसा समर्थन करता है।

भीमसेनके आघातसे दुर्योधनका उरुभङ्ग हो गया। वह जिस समय रक्त बहनेके कारण कातर स्वरसे रो रहा था उस समय अश्वत्थामा उसके पास पहुँचे। उन्होंने उसके सन्तोषार्थ पाँचो पाण्डवोंके मस्तक काट लानेके लिये दुर्योधनसे सेनापतित्वका भार लिया। इसके बाद घोर अँधेरी रातमें अश्वत्थामाने पाण्डवोंके शिविरमें पैठकर भ्रमसे पाँचो पाण्डवोंके बदले उनके पाँचो कुमारोंके सिर काट डाले। इस हत्याकाण्ड और छोटे बालकोंके कोमल सिर काटनेकी कथा सुनकर कौन ऐसा होगा जो एड़ीसे चोटीतक काँप न उठेगा? जिस दुर्योधनकी सान्त्वनाके लिये वे इस राक्षस-कर्ममें प्रवृत्त हुए थे, उस दुर्योधनको भी इस कार्यसे कहाँतक सन्तोष होता? बल्कि दुःखी होकर उसने प्राणत्याग कर दिया। कुरुपक्षका यह भयानक, वीभत्स और पैशाचिक काण्ड देखकर किसके मनमें घृणा नहीं उपजती? किन्तु इस पाप-चित्रके बादही पाण्डव-पक्षमें कैसे विपरीत और सुन्दर दृश्यका अभिनय होता है! द्रौपदी पाँचो पुत्रोंका मरण सुनकर रोने कलपने लगी। उसकी कातरता देखकर अर्जुनने उसके सन्तोषार्थ यह प्रतिज्ञा की कि—'देवि, मैं अभी उस पापीका पापमस्तक काटकर ला

देता हूँ। तुम उसपर चढ़कर स्नान करो और उसके पाप-कार्य्यका बदला लो।" इसके बाद अर्जुनने कृष्णकी सहायता-से अश्वत्थामाको बाँधकर द्रौपदीके सामने ला खड़ा किया। उसी पुत्र-शोकातुरा द्रौपदीने अपने पाँचो पुत्रोंके मारनेवालेको देखकर जैसा व्यवहार किया था, वह श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार लिखा है-"सुन्दरी द्रौपदी गुरुपुत्रको पशुके समान रस्सीमें बँधे हुए, अपने पाप-कर्मके कारण लज्जासे सिर झुकाये और अप-मानके साथ लाये गये देखकर सदय हृदयसे उनके चरणोंपर गिर पड़ी और बन्धनमें बँधे हुए अश्वत्थामाको देखनेमें अस-मर्थ होकर अपने पतिसे बोली—'इन ब्राह्मणकुमारको छोड़ दो। ये हमारे गुरु हैं। जिनसे तुमने गूढ़ मन्त्र और धनुर्वेद पढ़कर रणकौशल प्राप्त किया है वही भगवान द्रोण पुत्ररूपसे यहाँ विराजमान हैं। उनकी अर्द्धांगिनी कृपी भी अबतक जीती है। पतिव्रता कृपी वीर पुत्र पैदा करनेके कारण ही स्वामी-के साथ सती नहीं हुई। गुरुकुलका अपमान करना तुम लोगों-को उचित नहीं है। बल्कि उनकी पूजा और प्रतिष्ठा करनी चाहिए। नाथ! गौतमकी पुत्री वह गुरुपत्नी पुत्रशोकसे पीड़ित होकर मेरे समान न रोवे, ऐसा काम करना चाहिए। जो क्षत्रिय अपना क्रोध न रोककर ब्राह्मणकुलका अपमान कर-ता है वह सदा विषम शोकानलसे जला करता है।"

पुत्र-शोकातुर द्रौपदीकी ऐसी क्षमा और ऐसी धर्मप्रीति देखकर किसका मन मोहित न हो जायगा? ऐसी अलौकिक सहृदयता, क्षमा और धर्मप्रीतिका चित्र अश्वत्थामाके घृणित चित्रको अवश्य ही छिपा देगा और चित्तको उदारतासे ऐसा

परिपूर्ण कर देगा, शान्त रससे ऐसा आर्द्र कर देगा, और धर्मानुरागसे ऐसा अनुरक्त कर देगा कि वह पापचित्र मनसे एकदम निकल जायगा और अन्तःकरणमें बलका अनुभव कराने लगेगा—उस बलका अनुभव कराने लगेगा जिस बलसे द्रौपदीने गुरुपुत्रको देखतेही अपना सारा शोकताप धो बहाया था।

साहित्यमें रसका क्षेत्र

वियोगान्त नाटकोंका बड़प्पन भयानक और करुणा रसमें है। किन्तु वियोगान्तके परिणाममें रक्तपात होनेसे वीभत्स रसका ऐसा घोर सञ्चार होता है कि भयानक और करुण दोनों ही फीके पड़ जाते हैं। अपनी आँखोंसे रक्तपात देखने, उसका नाम सुनने वा उसका स्मरण होनेसे ही वीभत्स रसका सञ्चार हो जाता है, शरीर काँप उठता है और दिल दहल जाता है। जबतक यह भाव सम्पूर्ण रूपसे नष्ट नहीं हो जाता तबतक दयाका उदय ही नहीं होता। दया किसके लिये होती है? जिस व्यक्तिकी हत्या होती है, उसी-के लिये सर्वत्र मनमें दया उपजे, यह बात नहीं है। एक यथार्थ घटना लेकर देखिये। नवीन और एलोकेशीके खूनसे पापिनी एलोकेशीके प्रति सर्वसाधारणको दया नहीं आती। दयाका पात्र, नवीन ही होता है। वैसे ही हैमलेट नाटकमें खून करनेवाला छोटा हैमलेट ही दयाका पात्र होता है। लार्ड मैकबेथके मारे जाने पर उसके लिये क्या उतनी दया होती है? कीचक और दुःशासनके मारे जाने पर उनके प्रति वैसी अनुकम्पाका संचार होता है? जहाँ धर्मपक्षका निग्रह

वा नाश होता है वहीं निगृहीत वा निहत व्यक्तिके लिये दया-का उदय होता है। सावित्री, सीता, दमयन्ती, शकुन्तला, कुन्ती, उत्तरा, पञ्च पाण्डव, डेसडिमोना, किंग लियर, कौन्स्टैन्स अफेलिया आदि इस बातके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। किन्तु वियोगान्त नाटकोंके सङ्कीर्ण क्षेत्रमें उससे अधिक और कुछ हो ही नहीं सकता। ऐसे नाटक पापके घोर नरककुण्ड, और पाप क्रमशः किस प्रकार घोर भयंकर मूर्ति धारण करता है, यह सब दिखलानेके लिये जैसे उत्तम उपाय हैं, वैसे भिन्न भिन्न अवस्थाओंमें क्रमशः पुण्यका प्रकाश किस प्रकार फैलता है, यह अच्छी तरह दिखानेके लिये उत्तम उपाय नहीं हैं। किंग लियरमें भी ऐसा नहीं हो सका है। केवल राजाही निगृ-हीत होकर अनुकम्पाके पात्र हुए हैं। एक ओर कार्डेलिया और दूसरी ओर अन्य दो कन्याओंका चरित्र और संसारकी गति विशेष रूपसे दिखलानेके लिये ही नाटकमें राजाका समा-वेश किया गया है। जिस प्रकार रामचन्द्र और युधिष्ठिरके चरित्र अनेक दुरवस्थाओंमें कमलजालके समान विकसित हुए हैं, धीरे धीरे उन चरित्रोंकी स्फूर्ति हुई है और एक उच्चधर्मा देशकी सृष्टि होकर शान्तरसका प्रसार हुआ है, वह आर्य साहित्यके अन्तर्गत महाकाव्योंमें जैसा प्रसार प्राप्त कर चुका है वैसा और कहीं नहीं कर सका है। शकुन्तलामें दुष्यन्तका जो धर्मभाव है वह युधिष्ठिर या रामके धर्मभावसे उन्नत नहीं है। शेक्सपियरके वियोगान्त नाटकोंकी बात तो अलग रहे, उनके संकीर्ण क्षेत्रमें भी यह बात असम्भवसी हो गई है। यही क्यों, लैटिन और ग्रीकके महाकाव्योंमें भी क्या वैसे चरित्र

देख पड़ते हैं ? उनमें शौर्यवीर्यके विकाशकी कमी नहीं है। किन्तु राम और युधिष्ठिरके समान धर्मवीरताकी प्रकाण्ड सृष्टि कहाँ है ? राम और युधिष्ठिरने मानवी कल्पनाको पूर्णतः घेर रखा है—वहाँ और किसी बातके लिये सींक समाने भरका भी स्थान नहीं है। क्या वे केवल संसारके दयापात्र ही हैं ? वा धर्मवीरताके प्रकाण्ड चित्र ही हैं ? नहीं। उनके अनल्प कल्पना-विस्मृत उन चरित्रोंको देखनेसे ही इतनी भक्ति, इतनी श्रद्धाका उदय होता है, पाठकोंके मनमें शान्त रसका इतना संचार होता है कि उसमें दयाका स्थान ही नहीं रहता।

कृपाकी पात्री डेस्डेमोना है। राजा लियरने इतना कष्ट उठाया है कि उसकी दुरवस्थासे पाषाण हृदय भी विगलित हो जाता है। कान्स्टेंस पुत्र-शोकसे इस प्रकार पागल है जैसे पतिवियोगसे विकल हुई उत्तरा हो। वे सबकी सब औरोंको रुलाकर बड़ी हुई हैं। उन सबोंने आप रोकर दूसरोंको रुलाया है। किन्तु वहीं उनका अन्त हो गया है। वियोगान्त नाटकोंके घोर अन्धकारमय आकाशमें डेस्डिमोना एक क्षुद्र तारा है। सूर्यका प्रखर प्रताप जब राहुसे मन्द पड़ जाता है, जब उस राहुके छायापातसे दिनका मुख मलीन हो जाता है, दोपहरमें भी जब अँधेरा छा जाता है तब जिस प्रकार किसी क्षुद्र तारेकी क्षीण ज्योति छिटकी हुई देख पड़ती है उसी प्रकार डेस्डिमोना एक तारा है। नाटककी कालिमामें उसका श्वेत चिह्न झिलमिलाया करता है। अनुकम्पाने उसीमें कुछ और प्रकाश डाल रक्खा है। वियोगान्त नाटकोंके कार्य ऐसे ही होते हैं। उनके पापचित्रके घोर अन्धकारमें धर्मकी ज्योति छिटकना

चाहती है, किन्तु उसका प्रकाश अच्छी तरह फैलने नहीं पाता। वियोगान्त नाटकोंमें उसे वैसा स्थान नहीं मिलता। उसमें धर्मका केवल थोड़ा सा आभास दिखलाया जा सकता है। यदि धर्मका अधिक विकाश किया जाय तो वियोगान्त नाटकका रस रहने ही नहीं पाता। उसका रस भयानक ही है, और करुणा उसका परिणाम। उस रसमें धर्मके विकाशकी सीमा बहुत ही थोड़ी है। इस सीमाको पारकर यदि धर्मका अधिक प्रकाश डालनेकी चेष्टा की जाय तो शान्त रसका अवतार हो जाता है—वियोगान्त नाटकका रसभंग हो जाता है। इसीसे वियोगान्त नाटक शान्त रसको प्रबल नहीं बना सकते। शान्त रसकी प्रबलता आर्य साहित्यके महाकाव्यों और नाटकोंमें ही है।

साहित्यमें वीरता

वियोगान्त नाटकोंमें पाप-चित्र जिस प्रकार प्रबल हुआ है—पापकी गति क्रमशः जिस प्रकार उच्चताको प्राप्त हुई है, आर्य साहित्यमें धर्म भी उसी प्रकार प्रबल और उच्च हुआ है। आर्य साहित्यमें धर्मकी वीरता है। मिल्टनमें जिस प्रकार पापकी वीरता और विजय है उसी प्रकार आर्य साहित्यके महाकाव्योंमें धर्मकी वीरता और विजय है। उसी वीरताको विशेष रूपसे विकसित करनेके लिये उसीके आसपास और दो प्रकारकी वीरताका विराट् चित्र खींचा गया है। एक तो भीमके शारीरिक बलवीर्यकी वीरताका चित्र है और दूसरी वीरताका चित्र अर्जुनके सामरिक शौर्यका है। भीमकी वीरता

धर्माधीन है, पर दुर्योधनकी नहीं। भीमकी महाशक्ति दुर्योधनमें थी, इसी लिये भीम दुर्योधनका प्रतियोगी था। इसी प्रकार अर्जुनके प्रतियोगी कर्ण और धृष्टद्युम्नके प्रतियोगी द्रोण हैं। कर्णकी आसुरिक वीरताका प्रतियोगी घटोत्कच है। जैसे भीष्मके प्रतियोगी सारे पाण्डव वीर थे वैसे अभिमन्युके प्रतियोगी सारे कुरु वीर थे। किन्तु धर्मपुत्र युधिष्ठिरका प्रतियोगी कहाँ है? वे अर्जुन और भीष्मकी सी वीरताके कारण प्रधान नहीं हैं। यही वीरता दिखानेमें वे कर्णके सामने संकुचित हो गये हैं। किन्तु वे जिस वीरताके कारण प्रधान हैं उस उच्च वीरताके सामने अर्जुन, भीम आदि सबके सब अवनत हैं। अवनत होनेके कारण ही भीम और अर्जुनकी सामरिक वीरतासे युधिष्ठिरकी धर्मवीरता अलग है। यह धर्मवीरता कुरुपक्षके भीष्म और विदुरमें थी। पापपक्षमें उनकी वह धर्मवीरता और भी प्रस्फुटित हो गई है। धर्मतेज किस प्रकार क्रमशः बढ़ता गया है, यह पाण्डव पक्षमें देख पड़ता है। आर्य साहित्यमें धर्मका ऐसाही प्रशान्त आदर्श है। दूसरा आदर्श श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्णके उच्च चरित्रकी आलोचनासे यह प्रतीत होता है कि पापपक्षका बल और कौशल कितनाही क्यों न बढ़ा हो, दैवबल और कौशलके सामने उसकी हार ही होती है। दैवबल ही सर्वोच्च बल है और दैव-पक्ष ही सर्वोत्कृष्ट पक्ष। सब प्रकारके मानवीय पराक्रमकी अपेक्षा दैवपराक्रमही प्रबल है। सारे पार्थिव बलों पर दैव-बल विजयी होता है। धर्म दैवबलके आश्रित है। क्या पापबल और पार्थिव बलसे बलवान् कुरुपक्ष उस दैवाश्रित धर्मपक्षके समकक्ष हो सकता है? कुरुपक्षमें धर्मकी वीरता नहीं थी

और न दैवपक्षकी सहायता ही। इसी लिये वह पक्ष सदाके लिये नष्ट हो गया।

साहित्यमें देवत्व

महाभारतका नायक कौन था? क्या भीम भारतके नायक थे? नहीं। भीम युधिष्ठिरके अधीन थे। अर्जुन भी वैसेही थे। स्वयं युधिष्ठिर भी कृष्णके अधीन थे। तब श्री कृष्णकोही भारतका नायक कहना चाहिए। जो विश्वराज और ब्रह्माण्डपति थे, जो विश्वमें, ब्रह्माण्डमें सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् थे वेही भारतमें भी सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् थे। यद्यपि भारतमें उन्होंने धनुष नहीं धारण किया तथापि सबके अन्तःकरणमें, सब स्थानोंमें उनकी शक्ति और कौशलका प्रभाव अखण्डनीय हो रहा था। हजारों नारायणी सेनाएँ एक नारायणके बराबर नहीं हो सकतीं। सारे कुरु वीर उनके कौशलके सामने हार मान बैठे। महाभारतमें पद पद पर जैसे उनका अनुभव होता है वैसे मिल्टनके महाकाव्यमें कहाँ होता है? उसमें भगवान् निर्जीव और अदृश्य हैं। वे वैसे ही निर्जीव हैं जैसे मेघनादबधमें रामचन्द्र। किन्तु वेही रामचन्द्र रामयणमें कैसे हैं?

जैसा महाभारत है वैसा ही रामायण। उनमें भेद इतना ही है कि रामायणमें एक रामचन्द्र ही सारी वीरताओंके आधार हैं। महाभारतमें भीमका जो बल है, अर्जुनकी जो वीरता है, और युधिष्ठिरका जो धर्मगौरव है वह सब एक रामचन्द्रमें ही विद्यमान है। वे उनकी अपेक्षा भी

अधिक हैं। रामचन्द्रमें केवल बल, वीर्य और धर्म ही हो, ऐसा नहीं है; उनमें श्रीकृष्णकी शक्ति भी देदीप्यमान है। रामचन्द्रकी सारी शक्तियोंको बिलगाकर व्यासने कृष्ण सहित पाण्डव पक्षकी सृष्टि की है। रामचन्द्र रामायणमें सर्व-शक्तिमान् और सर्वव्यापी हैं। रामायणमें उनकी जैसी उज्ज्वल मूर्ति है वैसी और किसकी है? वाल्मीकिने उन्हीं रामचन्द्रमें सारी शक्ति, बल और वीर्य भरकर, फिर इन तीनोंको अलग अलग करके भी प्रकट किया है। जो त्रिविध वीरता भीम, अर्जुन और युधिष्ठिरमें है वह त्रिविध वीरत्व राम, लक्ष्मण और हनुमानमें है। राममें एक साथ सारी वीरता है। फिर लक्ष्मण और हनुमानके सामने उनकी धर्मवीरता और भी उज्ज्वल है। धनुष तोड़ने और राक्षसोंका नाश करनेमें उनकी भीम-वाली वीरता प्रकट होती है। परशुराम-विजय और रावण-युद्धमें उनकी असामान्य और अलौकिक वीरताका परिचय मिलता है। फिर वे धर्मवीरतामें लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। जैसे धर्मवीर रामचन्द्रकी वीरताका परिचय अयोध्यासे बन जानेके समय हमें मिलता है, वैसे ही वनवासी मुनियोंके सामने, सुग्रीवपक्षी बानरोंके सामने, और राक्षसोंके सामने भी वह परिचय मिलता है। उसी वीरताके सामने सुग्रीव, बिभीषण, हनुमान और राक्षस-पक्षी मारीच प्रभृति राक्षस भी अवनत हैं। मन्दोदरीने बारम्बार रावणसे सन्धि-स्थापनके लिये अनुरोध किया। क्यों किया? क्या रामको केवल वीर ही समझकर उनकी वीरतासे सब लोग डर गये थे? नहीं। उसके अतिरिक्त एक और भी विक्रम उनमें था?

वह विक्रम उनका दैवबल था। जिस बलका तेज रामचन्द्रमें था उसी दैवबलके विक्रमका अनुभव करके मन्दोदरीतकने कहा था—

"मुझे विश्वास होता है कि रामचन्द्र जन्म-मरण-विहीन, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, प्रकृतिप्रवर्तक, सृष्टिकर्ता और सनातन परम पुरुष ही होंगे। श्रीवत्सशोभित वक्षस्थल, क्षय-रहित, परिमाणशून्य, सत्यपराक्रम, अजेय, सर्वलोकेश्वर और महापति लक्ष्मीपति विष्णुने ही समस्त जगत्की कल्याण-कामनाके लिये मनुष्य-रूप धारणकर और बानरके रूपमें प्रकट हुए देवताओंके साथ भूलोकमें अवतीर्ण होकर राक्षस-परिवारके समेत महाबली, महापराक्रमी, भयंकर राक्षसराजका बध किया है।" लंकाकाण्ड ११३वाँ अध्याय।

तभी तो वाल्मीकिने एक रामचन्द्रको पार्थिव और दैव-बलसे परिपूर्ण कर अद्वितीय वीरका रूप दिया है। उनके चरित्रोंके विश्लेषण-स्वरूप श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम हैं। रामचन्द्रकी सृष्टि एक अपूर्व सृष्टि है। उसमें सारे विश्व-ब्रह्माण्ड और परमेश्वरका बल कूट कूटकर भरा है। ऐसी बड़ी कल्पना क्या दूसरी हो सकती है? वियोगान्त नाटकोंमें क्या ऐसी उच्चता देख पड़ सकती है? ऐसे नाटक धर्मका उतना उच्च गौरव नहीं प्राप्त कर सकते। आसुरिक और पार्थिव बलवीर्यसे परिपूर्ण कल्पना करनेवाले मिल्टन भी वह उच्चता नहीं प्राप्त कर सकते। मिल्टनने अपने महाकाव्यमें देवताकी रचना करते करते एक भयंकर असुरकी सृष्टि कर डाली है। ग्रीक और लैटिनके महाकाव्योंमें भी पार्थिव बल और आसुरिक

वीर्यकी बड़ी बड़ी कल्पनाएँ देख पड़ती हैं पर अन्य देशीय महाकाव्योंमें वाल्मीकिकी वह सुन्दर सृष्टि और सुरसौन्दर्य अन्यत्र कहाँ है ? ऐसे धर्मादर्श, वीरत्व-सृष्टि और सुरशोभाके लीलाक्षेत्र रामायण और महाभारत ही हैं । आर्य कविगणोंने उसी महाकाव्यरूपी महासागरसे बिन्दु बिन्दु लेकर छोटे छोटे महाकाव्योंकी रचना करके भूलोकमें स्वर्गङ्गाका स्रोत प्रवाहित किया है। उस स्रोतमें स्नान करनेसे संसार सुखी होता है और अमृतका आस्वाद लेता है। वह स्वर्गीय सुधा क्या और किसी जातिके साहित्यमें पाई जा सकती है ? वह केवल भारतकी ही अमूल्य निधि, अपूर्व सृष्टि और दिव्य सौन्दर्य्य है। उसके सौन्दर्य और गाम्भीर्यसे सारा संसार मुग्ध हो रहा है।

साहित्यमें रक्तपात।

रक्तपातके सम्बन्धमें आलंकारिकोंका मत

प्रायः यह बात सभी लोग जानते होंगे कि हमारे आलंकारिकोंने काव्यको दो भागोंमें विभक्त किया है। एक दृश्य काव्य है और दूसरा श्रव्य काव्य है। जिसके श्रवण और अध्ययन ये ही दो कार्य हैं वह श्रव्य काव्य हैं; और जिसका अन्त यहीं तक नहीं, बल्कि जिसे अभिनीतकर काव्यकल्पनाको कार्य और व्यवहारमें परिणत करते हैं और जिसे दस आदमियोंके सामने दिखला सकते हैं उसे दृश्य काव्य कहते हैं। इसी लिये दृश्य काव्यका दूसरा नाम रूपक है। काव्यमें रूप आरोपित करनेके कारण दृश्य काव्यका नाम रूपक होता है। साहित्य-दर्पणकार संक्षेपमें काव्यका यह लक्षण लिखते हैं—

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।"

रसात्मक वाक्यका नाम काव्य है। जिससे मनमें प्रेम और आनन्द उत्पन्न नहीं होता वह रस नहीं है। सहृदयोंके हृदयमें करुणा आदि* स्थायी भाव विभाव आदिके द्वारा परि-

* विभाव, अनुभाव और संचारी भावसे जब स्थायी भाव व्यक्त होता है तब रसकी उत्पत्ति होती है। लोकोत्तर आनन्दको ही रस कहते हैं। काव्यकी आत्मा रस ही है।

जिससे विशेषतः भावनाकी स्पष्टता होती है वह विभाव है। विभाव दो प्रकारका होता है—एक आलम्बन और दूसरा उद्दीपन। जिसके आश्रयसे रसकी स्थिति होती है वह आलम्बन और जिससे रसका उद्दीपन होता है वह उद्दीपन विभाव है। जिन भावोंके

पुष्ट होकर जब आनन्दजनक होता है तब उसे रस कहते हैं। काव्य-शरीरको इस प्रकार संगठित करना चाहिए जिससे सहृदयोंके—भावुकोंके हृदयमें आनन्द उपजे और उस काव्यके पढ़ने और अभिनीत करनेसे विशेष प्रकारका कोई फल प्राप्त हो। जिससे किसी प्रकारका फलोदय नहीं होता वह काव्य नहीं है। महाकवि दण्डी काव्य-शरीरका लक्षण इस प्रकार लिखते है—"शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।" जिस पदावलीमें कोई विशेष अभीष्ट अर्थ विद्यमान हो उसीसे काव्य-शरीर संगठित होता है। अभीष्ट अर्थ क्या है?

"सहृदयहृदयवेद्योऽर्थः"।

सहृदयोंके हृदय जिसका अनुभव करें वह अर्थ है। इस प्रकार प्रकट होता है कि काव्यको प्रीतिप्रद होना चाहिए और उसके द्वारा किसी इष्टार्थका साधन होना चाहिए। किसका इष्टार्थ? सहृदयोंका। जो लोग सुरुचि-सम्पन्न और काव्यके रसास्वादनमें समर्थ हैं वे ही सहृदय कहे जाते हैं। श्रव्य काव्य हो वा दृश्य काव्य, सभी प्रकारके काव्योंमें रसका उक्त रूप होना उचित है। लोगोंकी भिन्न भिन्न रुचि होनेके

द्वारा रसका अनुभव होता है वह अनुभाव है। सात्विक, कायिक और मानसिक भेदसे अनुभाव तीन प्रकारका होता है। जो भाव रसोंमें संचार करते हैं वे संचारी भाव कहलाते हैं और जो भाव रसोंमें स्थिर रहते हैं, वे स्थायी भाव कहलाते हैं। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, ग्लानि, आश्चर्य और निर्वेद ये नौ स्थायी भाव हैं। इन्हींसे क्रमशः शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त ये नौ रस उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक रसके उत्पन्न होनेमें विभाव, अनुभाव और संचारीका स्थायी भावके साथ रहना आवश्यक है। इनका विस्तृत वर्णन आलङ्कारिक ग्रन्थोंमें देखना चाहिए। अनुवादक।

कारण काव्य भी अनेक प्रकारके हैं। श्रव्य काव्यकी समाप्ति केवल श्रवण और अध्ययनसे ही हो जाती है। इससे, जहाँतक सम्भव हो, सुरुचि-सम्पादनका स्वाधीनतासे काम लेते हैं। किन्तु वैसी स्वाधीनता दृश्य काव्योंमें नहीं रह सकती; क्योंकि दृश्य काव्योंका अभिनय करनेमें और भी सजीवता लानी पड़ती है। युद्ध-विग्रह, राज्य-विप्लव, मारकाट आदिका श्रव्य काव्योंमें निर्वाह हो सकता है, किन्तु दृश्य काव्योंमें नहीं। यदि इनका अभिनय भी विशेष रूपसे दिखलाया जाय तो वह सहृदयोंको जैसा चाहिए, वैसा प्रीतिकर नहीं हो सकता; इसलिये दृश्य काव्यके नियम और भी परिष्कृत हैं।

जिसके केवल पढ़नेमें ही विशेष आनन्द होता है उसे यदि हम वास्तविक कार्यक्षेत्रमें अभिनय द्वारा मूर्तिमान बनावें तो सम्भव है, उतना आनन्द न हो। इससे उस आनन्दमें विघ्न करनेवाले कार्योंको नाटककारोंने अत्यन्त सावधानीसे छोड़ दिया है। जो शिष्टाचारके विरुद्ध हैं, जो सहृदयोंकी सुरुचिको विरोधी हैं, जिन्हें दिखलाना या व्यवहारमें लाना लज्जाजनक है, ऐसे कार्य दृश्य काव्योंमें स्थान नहीं पाते। इसीसे साहित्यदर्पणकारने लिखा है—

> दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः।
> विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्युरतस्तथा।
> दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद् व्रीडाकरञ्च यत्।
> शयनाधरपानादि नगराद्युपरोधनम।
> स्नानानुलेपने चेभिर्वर्जितो नातिविस्तरः।

नाटकोंमें क्या क्या नहीं होना चाहिए, इसके सम्बन्धमें एक आलङ्कारिककी सम्मति यह है—दूरसे पुकारना, बध, युद्ध, राज्य तथा देशका विप्लव, विवाह, भोजन, शाप, उत्सर्ग, मृत्यु, रति, दन्तच्छेद, आदि लज्जाजनक व्यापार, शयन, चुम्बन आदि, नगरोंका अवरोध, स्नान और अनुलेपन ये सब नाटकमें वर्जनीय हैं।

इसीसे ज्ञात होता है कि हमारे आलङ्कारिकोंने नाटकमें हत्याका निषेध कर दिया है। क्योंकि यथार्थतः हत्याका अभिनय दिखलानेसे सहृदयोंका कुछ भी मनोरञ्जन नहीं होता; बल्कि उनके मनमें घृणाका भाव उत्पन्न हो जाता है। समय समय पर उससे असह्य क्रोध उत्पन्न हो जानेकी भी सम्भावना रहती है। इस प्रकार क्रोध उत्पन्न होनेसे आदमी यहाँतक उत्तेजित हो सकता है कि उसी रङ्गभूमिमें ही अभिनीत हत्याकाण्ड पर एक दूसरा हत्याकाण्ड खड़ा कर सकता है। मांसपिण्डका शरीर लेकर इस प्रकारका हत्याकाण्ड अपनी आँखोंके सामने देखकर कौन स्थिर भावसे रह सकता है?—

*Desdemona. O, Banish me mylord,
but kill me not.
Othello. Down, Strumpet !
Des. Kill me to-morrow, let me live to-night.
Oth. Nay if your strive,—

---

* डेस्डिमोना—मेरे प्यारे, मुझे घरसे बाहर निकाल दो, पर जानसे मत मारो।
उथेलो—दूर हो, कलङ्किनी।
डेस्—अच्छा, मारना हो तो मार डालो पर रातभरके लिये जान बख्श दो।

Des. But half an hour.
Oth. Being done,
There is no pause.
Des. But while I say one prayer.
Oth. It is too late. (He smothers her)

रङ्गभूमिमें रक्तपात-दर्शनसे अनिष्ट

यह दृश्य उस समयका है जब कि सब दर्शकोंको स्पष्टतः यह मालूम है कि डेस्डिमोना एकदम निर्दोष है। उस निरपराधा, सरला, विशुद्ध-प्रेम-मग्ना और पतिपरायणा पर केवल सन्देहके कारण उसके मूर्ख और निर्बोध पतिका इतना क्रोध है जिससे वह उस सरलाको मार डालनेको उद्यत हुआ है। कौन सहृदय व्यक्ति इस भयानक दृश्यको देखकर चुप रह सकता है? क्या उसका भी क्रोध नहीं उमड़ सकता? क्या वह भी रंग-मंच पर चढ़कर उथेलोको पीटकर अपना क्रोध नहीं उतार सकता? ऐसा होते ही रंगमंच पर एक दूसरा ही दृश्य उपस्थित हो सकता है *। एक प्रतारित और निर्बुद्धि व्यक्तिके

उथेलो—नहीं, तुम्हारा यह कहना बिलकुल व्यर्थ है।
डेस०—खैर, आधा ही घंटा सही।
उथेलो—इससे लाभ ही क्या। अब रुकना असम्भव है।
डेस०—बस, केवल ईश्वर प्रार्थना कर लेने दो।
उथेलो—बहुत देर हो गई।
(गला घोंटकर मार डालता है)। अनु०

* लेखककी सम्भावना यद्यपि उपेक्षणीय नहीं है तथापि अत्युक्ति-शून्य भी नहीं कही जा सकती। आजकलकी नाटकमण्डलियोंने ऐसे दृश्य दिखलाकर दर्शकोंके हृदयोंको

लिये कोई इतना सदय-हृदय नहीं हो सकता कि उसे उस अत्यन्त निरपराधिनी स्त्रीकी हत्या सह्य हो। किसी घोर महापातकीकी भी हत्या होनेपर आदमी विचलित हो सकता है। स्त्री-हत्या तो सर्वतो भावसे निषिद्ध है। पापिनी पत्नीका परित्याग ही करना उचित है। हिन्दुओंकी दृष्टिमें जो आदर्श है, प्रकृत सहृदय हिन्दूकी जो रुचि होनी चाहिए, हिन्दूसमाज और हिन्दूधर्ममें जो विधान है, उसका स्त्री-हत्यासे पूर्णतः विरोध है। फिर जो स्त्री नितान्त निर्दोष है उसकी हत्याकी बात कौन हिन्दू पढ़ सकता है? और कौन हिन्दू उस दृश्यको देख सकता है? क्या इस प्रकारकी स्त्री-हत्याका दृश्य दिखानेसे मनमें मलिनता नहीं उत्पन्न हो सकती? क्या अन्तःकरणमें पापका स्पर्श नहीं हो सकता? ऐसा दृश्य दिखाना भी पाप है।

हिन्दू आदर्श

सबके सामने रङ्गमञ्चपर स्त्री-हत्याका दृश्य दिखाना हिन्दू धर्मादर्शका पूर्ण विरोधी है। रङ्गभूमिमें ऐसे दृश्यसे जिस अनर्थका सूत्रपात हो सकता है वह ऊपर दिखलाया जा चुका है। पीछे भी हत्यादर्शनका पाप संसारकी कल्पनाको मलिन कर सकता है। इससे हमारे नाटककारोंने कहीं

बहुत कुछ मजबूत बना दिया है। समयका प्रवाह भी कुछ ऐसा हो गया है कि जिस प्रकार ईर्ष्याके वशीभूत होकर उथेलोने बिना प्रमाणकेही अपनी साध्वी स्त्रीको मार डाला था उसी प्रकारकी आजकल अनेक घटनाएँ हो जाया करती हैं। ईर्ष्याने जिसकी आँखें बन्द कर दी हैं उन्हें कार्याकार्यका विचार बहुत कम रहता है। सम्भव है, इस बातमें दर्शकोंकी सहानुभूति उथेलोसे हो जाय। पर इसमें सन्देह नहीं कि सात्विक हिन्दुओंके लिये ऐसे दृश्य हृदयविदारक ही होते हैं। अनुवादक।

इस प्रकारके हत्याकाण्डका दृश्य नहीं दिखलाया है । हमारे नये नाटकोंमें भी ऐसा कोई दृश्य नहीं है । यूरोपमें वस्तुतः जिसे वियोगान्त नाटक * कहते हैं वह हमारे यहाँके रूपकोंमें नहीं है । क्योंकि हिन्दू धर्मादर्शके विपरीत होनेके कारण वह नाटकीय नियम और आदर्शके भी विपरीत हो जाता है । इसी वियोगान्त नाटकके कारण इस देशमें क्या क्या अनर्थ नहीं हुए हैं ।

यूरोपीय वियोगान्त नाटकोंकी उत्पत्ति और प्रकृति

हमारे देशके संस्कृत नाट्य-साहित्यमें जो उच्च आदर्श पाया जाता है वह हिन्दू धर्मकी दृष्टिसे पूर्णतः अनुमोदनीय है । हिन्दुओंकी रुचि और हिन्दुओंके हृदयसे उसका मेल है । यूरोपके साहित्यमें ऐसा आदर्श कहाँ ! हमने साहित्य-दर्पणसे नाटकके सम्बन्धमें जो निषेधात्मक वाक्य उद्धृत किये हैं उन्हींसे हमारे नाटकोंका आदर्श स्पष्ट हो जायगा । पहलेपहल यूरोपमें नाटकका आदर्श ग्रीससे लिया गया है । बाद उसमें अनेक प्रकारके परिवर्तन हुए हैं । ये परिवर्तन यूरोपकी भिन्न भिन्न जातियोंकी रुचिके अनुकूल हुए हैं । चाहे ग्रीक जाति हो चाहे

---

* यहाँ वियोगान्तसे मतलब ट्रेजेडी (Tragedy) का है। किन्तु इसके लिये यह यथोचित शब्द नहीं है। वियोग अनेक प्रकारसे हो सकता है पर ट्रेजेडीका वियोग विशेष प्रकारका होता है। उत्तररामचरित भी एक प्रकारका वियोगान्त नाटक कहा जा सकता है; पर उसकी गणना ट्रेजेडीमें नहीं की जा सकती। ट्रेजेडीमें वियोग बिना खून खराबा और मारकाटके नहीं होता। अतः वियोगान्त शब्द यथार्थ न होने पर भी व्यवहृत होनेके कारण विशेषतः इस पुस्तकमें यही शब्द इसके स्थान पर व्यवहृत हुआ है। अनुवादक।

यूरोपकी अन्यान्य जातियाँ, किसी जातिका धर्मादर्श हिन्दु-ओंके धर्म्मादर्शके समान नहीं है। उनमें भी परस्पर रुचि-वैचित्र्य है। इसीसे यूरोपीय नाट्यसाहित्यमें कभी हिन्दू-नाट्य साहित्यके आदर्शका प्रादुर्भाव नहीं हुआ। यूरोपीय जातियाँ जैसी रुधिरप्रिय हैं—जैसी कठिन स्वभावकी हैं, वैसाही उनका नाटकीय आदर्श भी है। स्पार्टाके नियम कैसे निष्ठुर थे, यह उन्हें भली भाँति मालूम है जिन्होंने ग्रीसका इतिहास पढ़ा है। एथेन्सवालोंने देशके बड़े बड़े मनुष्योंके साथ निर्दयताका व्यवहार किया है। धर्मात्मा सुकरातको तो विष पिलाकर मारही डाला गया था। उन्होंने उस महा-पुरुषके विषपानका दृश्य निश्चिन्त होकर देखा था। मालूम होता है, क्षमाका वे नाम तक नहीं जानते थे। उन्होंने देशके नियमोंको अत्यन्त निर्दयतापूर्ण कर दिया था। उसी निर्मम और निर्दय देशसे वियोगान्त नाटकका प्रादुर्भाव हुआ है। यदि उन्हीं नाटकोंका रक्तपात और निर्दय व्यवहारमें अन्त हो तो इसमें आश्चर्य्य ही क्या है ?

जिन्होंने ग्रीक साहित्यसे इन वियोगान्त नाटकोंको ग्रहण किया था वही भिन्न भिन्न यूरोपीय जातियाँ जैसी थीं, उनके सम्बन्धमें यहाँ थोड़ा उल्लेख किया जाता है—

बहुत पहले यूरोपमें वैण्डल, गाथ आदि जो बर्बर जातियाँ थीं उनका स्वभाव बड़ाही निर्दय था। आज भी उनका उष्ण रक्त आधुनिक जातियोंमें प्रवाहित हो रहा है। क्रूर आचारसे प्रसन्न होनेका क्रम यूरोपवालोंमें बराबर बना ही रहा। स्पार्टा-वालोंके निर्दय व्यवहार और रोमनोंके ग्लैडिएटरके खेल

हमारी बातोंकी यथार्थता सिद्ध करते हैं। मध्यकालीन इति-हास भी भयङ्कर नर-रक्तपातसे भरा हुआ है। क्रूसेडका * रक्तपात, इन्क्विज़िशनका हत्याकाण्ड आदि जितने यूरोपीय ऐतिहासिक विवरण हैं उनके पढ़नेसे शरीरमें रोमाञ्च हो जाता है। यहूदी जातिका उत्पीड़न और विचक्रैफ्टके दण्ड आदिके विवरणसे जो क्रूराचार प्रकट होता है उस क्रूराचारका भयङ्कर चित्र और किस जातिके इतिहासमें है? यही क्यों, आयर्लैण्डका इतिहास, अँग्रेजों और स्काटोंका रोमाञ्चकारी रक्तपात, फ्रांसके प्रोटेस्टेन्टों और कैथोलिकोंका हत्याकाण्ड! क्या इन सबके विवरणोंको पढ़कर यूरोपीय जातियोंको सभ्य कहा जा सकता है? स्पेनने अमेरिका-विजयमें कैसी नीचता की थी? यूरोपीय व्यवस्थाशास्त्रकी आलोचना करके देखिये तो मालूम होगा कि उसमें पहले कैसे भयंकर हत्याकाण्डके दण्डविधान थे। (पर वे सब बातें अब जाती रहीं।) इन ऐतिहासिक घटनाओंकी आलोचनासे कहना पड़ेगा कि यूरोपियनोंका गठन क्रूर उपकरणोंसे ही हुआ है। वह कठिन प्रकृति किसी प्रकार कोमल हो ही नहीं सकती। ईसाई धर्म बड़ाही उन्नत है; किन्तु वह भी युरोपमें व्यर्थ हो गया है। वह भी यूरोपीय जातियोंकी क्रूरता दूर करनेमें समर्थ न हो सका। क्योंकि What is bred in the bone, cannot come out of

---

* क्रूसेड एक प्रकारका धार्मिक युद्ध था। यह युद्ध मुसलमान और ईसाइयोंमें होता था। ईसाई चाहते थे कि जेरूसलम नामक स्थान टर्कोंसे ले लें जहाँ ईसामसीहकी समाधि थी। इसमें बड़ी खून खराबी हुई थी और बहुत दिनों तक यह जारी रहा। अनु०

the flesh. *यह बात नहीं है कि यूरोपीय जातियोंका यह प्रकृतिमूलक दोष केवल उनके इतिहासको ही कलंकित कर चुका हो, इसने उनके साहित्यको भी दूषित कर डाला है।

वियोगान्त नाटक पढ़नेका कुफल

अन्यान्य यूरोपीय क्रूरप्रकृति और रक्तप्रिय जातियोंने ग्रीक वियोगान्त नाटकको बड़े आदरसे ग्रहण किया। वह उनकी प्रकृतिके ठीक अनुकूल हुआ था। वे अपनी प्रकृति और रुचिके कारण वियोगान्त नाटकोंका विषम परिणाम देखकर बहुत प्रसन्न होते थे। इसीसे अँग्रेजी साहित्यमें भी वियोगान्त नाटकोंका प्रवेश हुआ। शेक्सपियरकी अतुलनीय प्रतिभा वियोगान्त नाटकोंके आनन्दमें डूब गई थी। उनकी रुचि वैसी न हो सकी कि उसके दोषोंको देख-कर उससे अलग हो जाय। उन्होंने अपनी सारी कवित्व-शक्तिको उसीमें ओतप्रोत भर दिया। शेक्सपियरके वियो-गान्त नाटक संसारमें एक अनुपम पदार्थ हो गये हैं। सब लोग शेक्सपियरकी प्रतिभाप्रसूत कविताकी सुनहली नलीसे विषपान कर रहे हैं। आज शेक्सपियरके प्रेमी पाठक हम लोग भी उनकी पूजा करते हुए उनकी कविताकी सुनहली नलीसे विष ही पीते हैं। कालिदासने जिस साहित्यको सर्वगुण-सम्पन्न, शत-शोभा-सम्पन्न और अनन्त माधुर्य्यसे परिपूर्ण किया है उसके पढ़नेकी ओर हम लोगोंकी रुचि नहीं होती। भवभूति-

* जो बात नस नसमें पैठ जाती है उसे निकाल बाहर करना सहज नहीं है। अनु०

का असाधारण उत्तररामचरित एक ओर पड़ा हुआ है, व्यास, वाल्मीकि एक कोनेमें पड़े रो रहे हैं; हम अँग्रेजी पढ़ते हैं और साथही शेक्सपियरका सम्मान करना सीखते हैं। शेक्सपियरके असंख्य सुविज्ञ समालोचक पथप्रदर्शक होकर हमारी सुकुमार रुचिमें विकार उत्पन्न कर रहे हैं। हम भी दस पाँच आदमियोंकी नकल करते हुए कहते हैं कि शेक्सपियरके नाटक संसारकी अतुल सम्पत्ति हैं।

केवल यही कहकर हम सन्तुष्ट नहीं होते। रंगभूमिमें हमने शेक्सपियरके मैकबेथका अभिनय भी आरम्भ कर दिया है। यदि किसी नाटककारसे नाटक लिखनेको कहा जाता है तो वह पहले वियोगान्त नाटक ही लिखने बैठ जाता है। हम केवल नाटक देखते ही नहीं, लिखते ही नहीं, बल्कि स्वयं भी वियोगान्त नाटक खेलते हैं। चमकीले अस्त्र शस्त्र उठाकर किसी सरला और निरपराधा स्त्रीको डेस्डिमोनाके समान क्रूरतापूर्वक मार डालते हैं। हमारी हत्याके दृष्टान्त चारों ओर फैल रहे हैं। अन्तमें इसका परिणाम यह होता है कि क्या हम, क्या अँग्रेजी पढ़े लिखे, और क्या नीच, सबके सब अस्त्र चलानेमें मजबूत हो देशको वियोगान्त नाटक दिखा दिखाकर रक्तसागरमें डुबा रहे हैं।

ऐसा होनेकी विशेष सम्भावना है; क्योंकि अँग्रेजी नाटक, उपन्यास, काव्य और कहानियाँ दिन रात पढ़ते पढ़ते हमारा प्रेम वियोगान्त नाटकोंके प्रति बढ़ता जा रहा है। कल्पनामें दिन रात खून ही खून होता है। जो मनमें सदा खून ही खून देखता है फिर उसको खूनसे घृणा नहीं होती। पापकी

अपवित्रताका भाव दूर हो जाता है। विशेषतः ऐसी पुस्तकोंके पढ़नेसे हम यह सीखते हैं कि जो जितना बड़ा वीर होगा वह उतना ही बड़ा माननीय भी होगा। जो लोग गौरवशाली और बड़े बने हैं वे सबके सब रक्तपात ही करनेवाले थे। हम भी वैसे ही वीर होना चाहते हैं, हम भी उन्हीं बड़ोंका अनुकरण करते हैं और खून खराबी करके ही अपना पौरुष दिखाते हैं। हम कल्पनामें पुरुषत्वका नया आदर्श चित्रित देखते हैं। खूनमें हम लोगोंका यह नया अनुराग है। यूरोपीय समाजमें यह अनुराग अब शिथिल हो गया है।

आर्यसाहित्य रक्तपातशून्य होनेपर भी वियोगान्त है

यद्यपि प्राचीन आर्य साहित्यमें यूरोपीय वियोगान्त नाटकोंकी रीतिका अवलम्बन नहीं किया गया है, तथापि वियोगान्त नाटकका जो प्रधान गुण है वह आर्य साहित्यमें विद्यमान है। जो करुण रस वियोगान्त नाटकका प्रधान गुण है वह आर्य साहित्यमें अधिकतासे विद्यमान है। हम शेक्सपियरकी डेस्डिमोनाके लिये जितने व्यथित होते हैं, क्या सीता, दमयन्ती, द्रौपदी, शकुन्तला, मालविका, महाश्वेता आदिके लिये उतने व्यथित नहीं होते ? इस पर भी इनमेंसे किसीका भी डेस्डिमोनाके समान बध नहीं हुआ है। वाल्मीकिने महाकविके समान काल्पनिक सुन्दर दृश्यमें सीताका कैसा अन्तर्धान किया है ! सरला, पापहीना डेस्डिमोना निष्ठुर रूपसे निहत होकर स्वर्ग सिधारी और सीताने कविकल्पित विमान पर आरूढ़ होकर आनन्दध्वनि और पुष्पवृष्टिके साथ स्वर्गारोहण किया। किन्तु

जन्मदुःखिनी सीताका दुःख हमारे हृदयमें सदाके लिये रह गया और साथ ही सहानुभूति भी सीताके लिये ही बनी रही।

सीताके दुःखसे कातर होकर हम वाल्मीकिके साथ प्रत्येक घटना पर रोते हैं, रोकर हृदयकी कातरतासे सीताको पवित्र समझते हैं, सीताके हृदयका माधुर्य्य हमारे हृदयमें धीरे धीरे जाग्रत होता है, हम सीताके सभी गुणोंके पक्षपाती होते हैं, सरमाके साथ अशोक बनमें सीताके लिये रोते हैं और दूसरी बार बनवासमें लक्ष्मणके साथ आँसुओंकी धारा बहाते हैं। सीता हमारे मनोमन्दिरमें पवित्र मूर्तिसे सदाके लिये प्रतिष्ठित हो जाती है। सीताने भारतवासियोंके हृदयको एक दम द्रवित कर दिया है—भारतवासी सदा सीताके लिये आँसू बहावेंगे।

यहाँ भवभूति या वाल्मीकिके साथ शेक्सपियरकी तुलना नहीं की जाती। हम समझते हैं कि शेक्सपियरमें अनेक गुण हैं जिनसे वे चिरस्मरणीय रहेंगे। वे भी एक महाकवि थे। किन्तु यहाँ Tragic का विचार होता है, सन्तापके स्थायी फलकी बात होती है। इस प्रस्तावमें कवित्वका विचार नहीं होता। वह एक स्वतन्त्र बात है।

सीताके सम्बन्धमें जो बात कही गई है वही दमयन्तीके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। निरन्तर दुःख भोगनेसे उनकी पतिभक्ति बहुत पवित्र हो गई है। उन्होंने चिरदुःखिनी होकर मानव हृदय पर सदाके लिये अधिकार जमा लिया है। निहत न होने पर भी उनका वियोग संसारके लिये चिरसन्ताप-

का कारण हो गया है। सभी उनके लिये कातर हैं। फिर हत्याके बिना भी तो सन्ताप स्थायी हो सकता है।

हत्यामें वीभत्सका सञ्चार

बहुतसे लोग कहेंगे कि क्या डेसडिमोनाके लिये हम कातर नहीं होते ? हमारा हृदय विगलित नहीं होता ? होता है सही, किन्तु हत्याकाण्डके द्वारा निहत होने पर जो अश्रुपात होता है उसके साथ सीता-वियोगसे होनेवाले अश्रुपातसे वैसा साम्य नहीं है। यह अश्रुपात एक प्रकार स्वतन्त्र है। इसका आगे विवेचन किया जाता है।

शेक्सपियरके नाटकोंमें आइमजिन और डेसडिमोनाके समान पतिपरायणता और प्रेमका दृष्टान्त बहुत ही कम देखा जाता है। डेसडिमोनाका प्रेम जूलियटके समान हृदयोन्मादी नहीं है। वह अत्यन्त गम्भीर, शान्त और हृदयव्यापी है। इतना होनेपर भी वह उग्र और प्रबल है।

वह प्रेम नेत्रोंमें नशा लानेवाला नहीं है। उस प्रेमसे भूषित डेस्डिमोना अपने हृदयकी माधुरीसे सभीका मन मोह लेती है। किन्तु शेक्सपियरने ऐसा चित्र खींचकर मूरके चरित्र-में महत्ता लानेके लिये डेस्डिमोनाके खूनका षडयन्त्र खड़ा किया। इसके बाद पाठक उस षड़यन्त्र और हत्या-व्यापारमें निमग्न हुए। डेस्डिमोना निर्दयतासे मारी गई। यह कैसा वीभत्स व्यापार है! डेस्डिमोनाकी सृष्टि क्या केवल इसी हत्या-व्यापारके लिये हुई थी ? इस हत्याकाण्डको देख देखकर आँखोंमें आँसू आवेंगे या शरीर सिहर उठेगा ?

डेस्डिमोनाके बाद एमेलिया मारी गई। जान पड़ा, जैसे वह छुरी हमारी ही छातीमें पैठ गई। कैसा भयानक काण्ड है!

ट्रेजेडी है या कसाईखाना?

मैकबेथमें और भी घृणित व्यापार है। उसमें तो हत्या ही हत्या है। उसके आदिमें हत्या, मध्यमें हत्या और अन्तमें भी हत्या। पहले डन्केनकी, बीचमें बैंकोकी और अन्तमें स्वयं मैकबेथकी हत्या है। नाटकका सर्वांश ही कसाईखाना है। जब लेडी मैकबेथ प्रकट होकर कहती है कि मेरा लहूका हाथ कभी धुलता ही नहीं, तब तो कसाईखाना और भी बढ़ जाता है। उसके सामान्य अनुतापका चित्र इस रक्तगङ्गाको और भी उज्ज्वल कर देता है। भीषण गृहदाहमें दो बूँद आँसू गिरानेके समान यह अनुताप नहींके बराबर है। यह अनुताप विषकुम्भमें दुग्धबिन्दुके समान है। क्या ऐसे सामान्य अनुतापके चित्रसे यह भयानक हत्याकाण्ड छिप सकता है? नाटकमें किस चित्रका अधिक गौरव है? हत्याकाण्डका या अनुतापका? हत्या तो नाटकमें सर्वत्र ही है और अनुताप केवल एक स्थानमें है। वह अनुतापचित्र रक्तगंगामें डूब गया है। वह घोर हत्याकाण्डसे परिपूर्ण नाटकका प्रलोभनमात्र है।

शेक्सपियरके सभी बड़े बड़े नाटकोंमें हत्याका वीभत्स व्यापार है। हैमलेटका अन्तिम अङ्क भी कसाईखाना है। रिचर्ड दी सेकेण्ड और थर्ड, जान, लियर, कारोलेनस, प्रभृति सभी नाटक हत्याकाण्डसे परिपूर्ण हैं। जूलियस सीजरमें किस भयानक स्वरसे यह सुनाई देता है! —Beware the ides of

march. सीजरकी हत्याके बाद इन शब्दोंका स्मरण होते ही हृदय काँप उठता है। नाटकका करुण रस कहाँ है ! आज भी यदि हम मैकबेथका नाम लेते हैं तो काँप उठते हैं। रिचर्ड दि थर्डके घृणित व्यापारसे सौ हाथ दूर जा खड़े होते हैं। वह पुस्तक पढ़ना तो दूर रहा, मनमें आता है कि अब कभी Tragedy न पढ़ेंगे।

साहित्यमें खूनका व्यापार विलायती सुरुचिके भी विरुद्ध है

केवल शेक्सपियरकी ट्रेजडियोंमें ही चमकती तेज कटार नहीं देख पड़ती। वे लिखते हैं Comedy (संयोगान्त नाटक) और उसमें भी वही कटार ! मर्चेंट आफ वेनिस पढ़िये, वहाँ भी वही कटार चमकती है। उस पर शान चढ़ाई जाती है। नाटकको कसाईखाना बना देना शिष्टाचारके विरुद्ध और घृणित व्यापार है। सुरुचि-सम्पन्न सुप्रसिद्ध अँग्रेज समालोचक एडिसन (Addison) कहते हैं:—

But among all our methods of moving pity or terror, there is none so absurd and barbarous, and which more exposes us to the contempt and ridicule of our neighbours, than that dreadful butchering [of one another, which is so frequent upon the English stage. To delight in seeing men stabbed, poisoned, racked, or impaled, is certainly the sign of a cruel temper; and as this is often practised before the British audience, several French critics, who think these are grateful spectacles to us, take occassion from them to represent us as a people that delight in blood.

It is indeed very odd to see our stage strewed with carcasses in the last scenes of a tragedy, and to see in the wardrobe of the play-house several daggers, poniards, wheels, bowls for poison and many of the instruments of death." *

एडिसन रङ्गमञ्चपर रक्तपातको जैसा जघन्य और बर्बरताका व्यापार समझकर घृणा करते हैं, उससे स्पष्ट होता है कि हत्याकाण्ड कभी मनुष्योंके लिये आनन्दजनक नहीं हो सकता। नाटक नव रसका आश्रय है। Tragedy करुण और भयानक रसका आश्रय है। हत्या और खून भयानक रसका कभी परिणाम नहीं है। रसको परिपुष्ट करनेके लिये उसको आनन्दजनक बनाना उचित है। जो आनन्दजनक नहीं, वह रसका परिचायक नहीं। फिर कहिये तो, चमकती कटार भोंककर किसीको मारनेमें आनन्दका अनुभव होगा या घृणाका? इसमें सन्देह नहीं कि हम हत्याकाण्ड दिखला-

* "किन्तु करुणा और भय उत्पन्न करनेके लिये हमारे कई साधन हैं। उनमें एकके द्वारा दूसरेकी हत्याका जो भयानक काण्ड है, जिसका दृश्य अँग्रेजी रंगमंचपर प्रायः दिखलाया जाता है, बड़ा निष्ठुर और अनुचित है। इस कारण हम अपने पड़ोसियोंके निकट बड़ेही घृणित और उपहासास्पद होते हैं। मनुष्योंकी भीषण हत्या, विषप्रयोग, कारारोध, आदि देखकर प्रसन्न होनेसे क्रूर प्रकृतिका परिचय मिलता है। ऐसे दृश्योंको ब्रिटिश दर्शकोंके सम्मुख प्रायः दिखानेके कारण कुछ फ्रेंच समालोचक जो इन सब बातोंको हमारे लिये खेलवाड़ समझते हैं, यह कहनेका अवसर पाते हैं कि अँग्रेज खूनके प्यासे होते हैं और उनका ऐसे ही कामोंमें मन लगता है। इसमें सन्देह नहीं कि जब ट्रेजेडीकी समाप्ति होती है तब रंगमंचको मुरदोंसे भरा देखना और नेपथ्यशालामें कटार, छुरा, पिस्तौल, विषपात्र तथा अन्यान्य ऐसे ही प्राणनाशक साधनोंको देखना बड़ा ही बुरा मालूम होता है।" अनुवादक।

कर भयानक रसका भङ्ग करते हैं। नाटकको कसाईखाना बना देनेसे रसका परिपाक नहीं होता। वह कवित्वके लिये हानिकारक और रसभङ्ग दोषसे दुष्ट हो जाता है। "Butchery is not poetry."

उपर्युक्त बातोंसे हम यह नहीं कहना चाहते कि शेक्सपियरके वियोगान्त नाटकोंमें कुछ कविता है ही नहीं। खून न करनेसे क्या करुण रसकी परिपुष्टि नहीं हो सकती? जो ऐसा नहीं कर सकते वे विभाव आदिसे रसका परिपाक साधन करनेमें अत्यन्त असमर्थ हैं। उनके लिये उस रसका अवलम्बन करनाही अन्याय है। खूनसे मनुष्यको स्वभावतः घृणा होती है। उसके प्रति घृणा उत्पन्न करनेके लिये नाट्य साहित्यमें सहायताकी आवश्यकता नहीं है। जिस कार्यसे सभ्य समाज स्वतः निवृत्त रहता है, साहित्यमें उसीके उज्ज्वल चित्र खींचनेसे विपरीत फलकी सम्भावना हो सकती है। एक समूचे राजवंशमें कितने हत्याकाण्ड होते हैं? हम युद्धकी बात नहीं कहते। राज्यलोभसे औरंगजेबके हत्याकाण्डके समान हत्याकाण्डकी बात कहते हैं। इस विषयमें उथेलोके समान कितने लोग देख पड़ते हैं? वस्तुतः शेक्सपियरने उथेलोको इतना बढ़ा चढ़ा दिया है कि उसमें कुछ अस्वाभाविकता आ गई है। मनुष्य, विशेषतः उथेलोके ऐसा महावीर, इतना निर्बोध हो सकता है कि नहीं, इसमें सन्देह है। शेक्सपियरके किंग जान नाटकमें जहाँ ह्यूबर्ट लाल लोहेकी शलाका लेकर आर्थर-की आँखें फोड़नेके लिये आया है और उस कार्यके लिये यत्न किया जा रहा है वहाँ वह दृश्य हृदयमें बड़ीही घृणा

उत्पन्न कर देता है। कुशल यही है कि आँखें निकाली नहीं गई। किन्तु घटना ऐसी हुई कि वह राजपुत्र नृशंस जॉनके उत्पीड़नसे कारागारकी दीवारसे कूद पड़ा और उसकी मृत्यु हो गई। उसकी आत्महत्यासे किसके हृदयमें वेदना उत्पन्न न होगी? ऐसे वीभत्स चित्रका फलही क्या है? क्या राज्यलोभके घृणित पापाचित्र दिखानेके लियेही इसकी अवतारणा हुई है? कितने राजा ऐसे घृणित हो सकते हैं? अगर कुछ ऐसे हों भी तो उनको ऐसे लोभसे कौन रोक सकता है? फिर ऐसे चित्रको सर्वसाधारणके सम्मुख उपस्थित करनेसे क्या लाभ? नाटक इतिहास नहीं है। इतिहासकी सम्पत्तिका इतिहासमें ही रहना ठीक है। शेक्सपियरने बिना हत्या (Butchery) केही जहाँ ट्रेजेडीकी रचना की है वहाँ हम उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं। उनके कितने ही ऐसे नाटक हैं जो वियोगान्त होने पर भी संयोगान्त हैं। ऐसी रचनाको हम वियोगान्त नाटकोंकी ही श्रेणीमें गिनेंगे। आइमजिनने उतना कष्ट नहीं उठाया जितना कि चिरदुःखिनी दमयन्ती और सीताने। इसीसे उसे वह गौरव प्राप्त नहीं हुआ। यदि सिम्बेलिन नाटक वियोगान्त होता और आइमजिनके साथ लियोनिटसका मिलना होता तो आइमजिनके लिये लोग अधिक कातर होते। सीताके साथ अन्तमें रामका मिलन न होनेसे उनके वियोगका व्यापार और वनवास अधिकतर करुणाका कारण हो गया है। यदि सीता अपने पिताके घर भेज दी जाती तो इतना कातरभाव कभी उपत्पन्न न होता। सीताके वनवासने काव्यको करुण रसकी पराकाष्ठा

तक पहुँचा दिया है। इसीसे वियोगान्त उत्तररामचरितका इतना अधिक स्थायी फल होता है। भवभूतिकी छायामें वह अधिकतर प्रस्फुटित हो गया है। वियोगसे कातरता उत्पन्न होती है, किन्तु हत्याकाण्डसे बीभत्स रसका सञ्चार होकर रसभङ्ग हो जाता है। डेस्डिमोनाका स्मरण करतेही उसके खूनकी बातसे हृदयमें बड़ी भारी चोट लगती है और रसभङ्ग हो जाता है।

होरेश (Horace) का कथन है कि रङ्गभूमिमें प्रकाश्य रूपसे खून करनेमें दोष है। यदि अप्रकाश्य रूपसे खून किया जाय तो उसमें कोई दोष नहीं है। यह बात उपेक्षणीय है। क्योंकि खूनका नाम सुननेसे ही लोग काँप उठते हैं। कलकत्ते आदि शहरोंमें जो खून होते हैं, उन्हें क्या सब कोई देखते ही हैं? न देखने पर भी सुननेसे ही हत्याकाण्डका चित्र मनमें अङ्कित हो जाता है। कल्पना ही उसको प्रत्यक्ष कर दिखाती है। बाल-हत्या, स्त्रीहत्या, स्वामिहत्या, पितृहत्या, मातृहत्या आदिका नाम सुनते ही हृत्कम्प हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि हत्याकाण्डका जाज्वल्य मानचित्र अपनी आँखों देख रहे हों। इससे नाटकमें हत्याकाण्डके आनेसे ही रसभङ्ग हो जाता है। खून प्रकाश्य रूपसे दिखाया जाय या न दिखाया जाय, दोनोंका समान रूपसे ही कुफल होता है। ग्रीक वियोगान्त नाटक हत्याकाण्डसे कलङ्कित हैं। इस कारण वैसेही उनकी देखादेखी और नाटक लिखे जायँ, यह कोई बात नहीं है। यूरोपके नाटककारोंने ऐसा करके अपनी कुरुचिका ही परिचय दिया है। इसीसे, क्या हम भी वही दोष करके अपने हिन्दू नाम

और आर्य गौरवको जलाञ्जलि देंगे ? अँग्रेजी अनुकरणमें हमें उसके दोषोंसे सतर्क होना चाहिए । संस्कृत साहित्यकी ओर देखिये । वह साहित्य इस दोषसे दूषित नहीं है । स्वदेशी रत्नभाण्डारको छोड़कर यूरोपीय बर्बरताके चिह्नस्वरूप रक्त-पातसे हम अपना हाथ क्यों कलङ्कित करें ?

शेक्सपियरके वियोगान्त नाटक पढ़नेका दुष्परिणाम

शेक्सपियर ही इस देशमें सुप्रसिद्ध और सर्व-साधारणके सुपरिचित हैं, इसीसे मैं उनका ही दृष्टान्त देकर यह प्रस्ताव लिखता हूँ । शेक्सपियरके वियोगान्त नाटकोंको जितने लोगोंने पढ़ा है, उतने लोगोंने और अँग्रेजी नाटक नहीं पढ़े हैं । यही नहीं, हमारे कालेजोंमें भी विद्यार्थी तक शेक्सपियर पढ़ते हैं । युवास्थासे ही हमारी रुचि कलुषित होती जाती है । इसीसे कोई कोई विद्यार्थी जब परीक्षामें फेल हो जाते हैं तब उनकी आत्महत्याकी बात आज-कल सुन पड़ती है । आत्महत्यासे उन्हें घृणा नहीं होती । आत्महत्या करनेमें उन्हें धर्मभय नहीं होता । क्योंकि जिस साहित्यकी वे शिक्षा पाते हैं उसमें आत्महत्या महापापके रूपमें चित्रित ही नहीं की गई है । आत्महत्याका पाप आदर्श संस्कृत साहित्यके अतिरिक्त सम्भवतः और किसी साहित्यमें नहीं है । इस विषयमें अन्यान्य समालोचकोंकी जैसी राय हो, पर हम यही कहेंगे कि ऐसे साहित्यसे रुचि अवश्य दूषित होती है ।

अँग्रेजी साहित्यका पक्षपात ।

हमारी यह कुरुचि इतनी बढ़ गई है कि अब हम अँग्रेजी साहित्यकी किसी प्रकारकी निन्दा सुनही नहीं सकते । जो वस्तुतः निन्दनीय है उसकी निन्दा भी हमें असह्य हो जाती है । हम उस साहित्यके इतने पक्षपाती हो गये हैं कि उसकी निन्दा सुनने पर संस्कृत साहित्यमें भी वैसेही दोष ढूँढ़ ढूँढ़कर बाहर करनेका प्रयास करने लगते हैं । किन्तु यह स्मरण रहना चाहिए कि एकके दोष और पापसे दूसरेके दोष और पाप समर्थित नहीं किये जा सकते । हलधरका दोष दिखानेसे जलधरका दोष कभी छिप नहीं सकता । पर यह दुःखकी बात अवश्य है कि संस्कृत साहित्यके दोषसे अँग्रेजी साहित्यके दोष छिपाकर हम अपनेको कृतार्थ समझते हैं । मर्चेंट आफ वेनिस नाटकमें छुरी पर शान चढ़ानेकी बात कहने पर एक आदमी पूछ बैठा कि तुम्हारे काव्यमें सीताकी अग्निपरीक्षा क्या है ? इसका उत्तर यह है कि अग्निपरीक्षा परीक्षामात्र है। उसमें सीता जलकर राख नहीं हो गई । यदि किसी संस्कृत नाटकमें आगसे नायक नायिकाको भस्म कर दिया गया होता तो अग्निपरीक्षासे भयका सञ्चार होता और मर्चेंट आफ वेनिसकी घटनासे मेल खाता । किन्तु जब अग्निदाहका व्यापार ही कहीं नहीं देख पड़ता तब अग्नि-परीक्षा और छुरीकी धार तेज करना, दोनों बराबर नहीं हो सकते । जतुगृहदाह एक प्रहसन (Farce) मात्र है । राज्य और शान्ति-स्थापनके लिये खाण्डवदाह है । ये सब नाटकमें नहीं हैं । इनका स्थान

काव्यमें है। रामायणमें जितने अद्भुत व्यापार हैं, उनमें यह अग्निपरीक्षा भी एक है।

नाटकका पर्यवसान

अँग्रेजी साहित्यके हत्याकाण्डोंका समर्थन करनेके लिये बहुतसे लोग कहते हैं कि यह स्वाभाविक है। किन्तु नहीं मालूम कि वे सीताके स्वर्गारोहणको अद्भुत और अस्वाभाविक कैसे कहते हैं। वियोगान्त नाटकोंका घोर हत्याकाण्ड आँखोंके सामने देखकर चुप रह जाना कहाँतक स्वाभाविक है, यह हम नहीं कह सकते। पापमात्र ही मनुष्योंका स्वाभाविक व्यापार है। किन्तु यह हत्याकाण्ड पापका चूड़ान्त व्यापार है। हत्याके समान नीच और घृणित पाप क्या और भी हो सकता है? ऐसे स्वाभाविक व्यापारको नाटकमें लानेकी कविको आवश्यकता ही क्या पड़ी? यह नाटकका एक कौशल मात्र है। जब सीताने स्वर्गारोहण या पाताल-प्रवेश किया, राम सर्यूमें समा गये, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम आदि हिमालयमें अदृश्य हो गये, तब सबने यह जान लिया कि कविने इसी कौशलसे इन्हें अपने काव्यसे वियुक्त किया। हत्या द्वारा अपसारण करनेसे इस प्रकारका अपसारण सौगुना श्रेष्ठ है। क्या खून करके ही किसीको अलग करना नाटकका कौशल है? उसके अतिरिक्त क्या और कोई कौशल है ही नहीं? तद्रूप पाताल-प्रवेश और स्वर्गारोहण आदि भी कौशल विशेषके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इसका मर्म सब लोग समझते हैं। इससे ग्रन्थ 'मधुरेण समापयेत्' का ठीक उदाहरण हो

जाता है। किन्तु हत्याकाण्डके द्वारा ग्रन्थ-समापन एक वीभत्स काण्डमें परिणत हो जाता है। इस प्रकारका पर्यवसान अत्यन्त निन्दनीय है।

कोई कोई यह भी कह सकते हैं कि हत्याकाण्ड नाटकीय कौशलमें सर्वत्र नहीं आ सकता, किसी किसी स्थानमें उसका होना आवश्यक है। डेस्डिमोनाकी हत्या इसी प्रकार अवश्यंभावी व्यापार है, वह उथेलोकी कथाके अन्तर्गत है, उसके न होनेसे उथेलोके चरित्रकी परिपुष्टि हो ही नहीं सकती, उथेलोका यह परिणाम घटना-क्रमसे आ पड़ा है। हम यह बात मानते हैं। किन्तु हम यह कहते हैं कि ऐसे स्थानमें विषय-निर्वाचनका ही दोष है। जो प्रतिभा घटना-चक्रको परिवर्तित नहीं कर सकती वह प्रतिभा त्रुटिपूर्ण है। शेक्सपियरकी प्रतिभामें त्रुटि नहीं बतलाई जा सकती। यह शेक्सपियरकी रुचिका ही दोष है। ऐसी रुचिको हत्या व्यापारमें ही आनन्द मिलता है। उसी रुचिका यह फल है कि एक कृष्णकायको इस प्रकार निर्दय और पामरके रूपमें चित्रित करनेमें परमानन्द मिला है। केवल शेक्सपियरकी ही ऐसी रुचि नहीं थी। उस समय ऐसी रुचि प्रायः सभीकी थी। आज भी ऐसी रुचिका परिचय यत्रतत्र मिल जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी रुचिके विरोधी लोग भी हैं। पर उनका होना न होनेके बराबर है।

हमारे वेणीसंहारके विषय-निर्वाचनमें इस प्रकारका दोष देखा जाता है। जिस आख्यायिकाके परिणाममें दुःशासनका रक्तपान किया जाय और रक्तसे ही द्रौपदीकी वेणी बाँधी

जाय, ऐसी कहानीका अवलम्बन विषय-निर्वाचनका दोष नहीं कहा जायगा तो क्या कहा जायगा ?

पारसी कम्पनियाँ और थियेटर हाल

पारसी कम्पनियोंकी बदौलत शेक्सपियरके वियोगान्त नाटकोंका बहुत प्रचार हो गया है। भिन्न भिन्न नामोंसे उनके खेल खूब ही खेले जाते हैं और सर्वसाधारण उन्हें बड़े चावसे देखते हैं। शेक्सपियरके नाटकोंको नाटक और आख्यायिकाके रूपमें पढ़कर वैसी कुरुचि लोगोंमें नहीं फैलती जैसी कि थियेटर हालमें उनके खेल देखकर। हमारे कुछ हिन्दी उपन्यास-लेखक भी इस ओर कदम बढ़ाये हुए हैं और उनके उपन्यासों में भी विषपान आदिसे आत्महत्याका निर्देश किया गया है। कुशल है कि इस प्रकारके वियोगान्त नाटक हिन्दीमें अभी अनूदित होकर ही आये हैं। हमारे समाजपर वियोगान्त नाटकोंका प्रभाव पड़ रहा है। आत्महत्याको घोर पाप समझना भूला जाता है—धर्मभीरुता नष्ट होती जाती है। घोर पापका भाव स्त्रियोंके मन और कल्पनासे मिटता जाता है। भारतीय ललनाएँ थियेटर देख देखकर अनेक दोषोंका आकर बनती जाती हैं। पहले जो दोष दूसरी भाषामें था वह अपनी भाषामें आया और कम्पनियोंकी बदौलत थियेटर हालमें आया। अब वह घर घरमें पैठ रहा है।

महाभारत और रामायणके पाठका फल

अँग्रेजी पढ़नेवालोंमें बहुतसे लोग यह भी कह उठेंगे कि क्या तुम्हारे संस्कृत साहित्यमें खून-खराबी नहीं है ? हम

कहते हैं कि है—बहुत है। महाभारतमें बहुत हत्याकाण्ड है। पाण्डवोंके शिविरमें पाँचो बालकोंकी हत्या नहीं तो क्या है ? आतिथ्य धर्मरक्षाके लिये शिविकी पुत्रबलि क्या है ? पर ऐसे ऐसे व्यापार हमारे संस्कृत दृश्यकाव्योंमें नहीं हैं। यह सब श्रव्य काव्यमें हैं। दृश्यकाव्यके साथ श्रव्य काव्यका क्या भेद है, यह हम पहलेही लिख चुके हैं। उस विचारसे यह दोष, दोष कहा ही नहीं जा सकता।

महाभारत और रामायणके पाठका फल अत्यन्त शुभ है। वस्तुतः हिन्दू समाजमें आज भी धर्मका जो बल और प्रभाव देखा जाता है वह रामायण और महाभारत पढ़नेका ही फल है। जो धर्मतेज और धर्मबल इन दोनों महाकाव्योंके प्राण हैं वेही आज समाजको सजीव बनाये हुए हैं। जब हम दानवीरकी पुत्रबलि देखते हैं तब हमारा धर्मभाव इतना उच्च हो जाता है कि और सब कुछ नीचे चला जाता है। हम शिविका धर्म और दानवीरता देखकर अपने आपको एक दम भूल जाते हैं। जिस दानधर्मके लिये वे सब कुछ छोड़ सकते हैं उसके सामने पुत्रबलि क्या है ? उस बलिसे त्यागका गौरव और दानवीरताका धर्मभाव परिपूर्ण हो जाता है। हम भी कुछ देरके लिये धर्मकी उच्चतामें उठ जाते हैं और शिविके समानही धर्ममें मुग्ध हो जाते हैं। उस समय पुत्र-बलि तुच्छ जान पड़ता है। केवल ऋषि-चरित्रमें ही आर्य-धर्म नहीं था, क्षात्रवीरमें भी वह वर्तमान था। व्यासने पुराणोंमें इस बातको अङ्कित कर रक्खा है। जिस समय कौरवोंके साथ कर्ण रणमदसे मत्त हो गये थे उस समय भी

दानवीरके धर्मपालनमें कुण्ठित न होकर उन्होंने अपने अमोघ कवच और कुण्डल देते हुए इन्द्रकी प्रार्थना पूर्ण की थी । इस आख्यानके पढ़नेका फल है धार्मिक उत्तेजना और धार्मिक बलसे बलवान् होना । इससे प्रकृति दूषित नहीं होती बल्कि और उन्नत हो जाती है। धर्मके लिये, दानवीरताके लिये हिन्दू सर्वस्वत्याग करनेकी शिक्षा ग्रहण करते हैं ।

और पाँचों बालकोंकी हत्याकी बात अलग है । वह दुर्योधनके आसुरिक पापपक्षका एक व्यापार है । व्यासने उस घटनाको घोर तामस व्यापार सिद्ध किया है । कितने भक्त कवियोंने इस घटनामें साधारण परिवर्तन करके उसे पापशून्य कर शिक्षाप्रद बनानेकी चेष्टा की है । पाण्डव-विद्वेषी दुर्योधनको भी इस घटनासे घोर पश्चात्ताप हुआ था । युद्धकाण्डमें कैसे कैसे बखेड़े हो जाते हैं, कैसी भ्रान्ति हो जाती है, और उस युद्ध तथा गृहविवादसे कैसे भीषण परिणाम और कुफल होते हैं, यही दिखलानेके लिये इस घटनाका उल्लेख किया गया है । जो लोग महाभारतको इतिहास समझते हैं उनके लिये इस घटनामें कोई दोष नहीं है । जो लोग महाभारतको काव्यकी दृष्टिसे देखेंगे वे जानेंगे कि युद्धकाण्ड कैसा भयानक व्यापार है । ज्ञातिविरोधका कैसा भयङ्कर परिणाम होता है ! जिस काव्यमें ऐसी घटनाका उल्लेख रहता है वह पुराण है । सर्वसाधारणकी धर्मोन्नति तथा हिन्दू समाजको धर्मबलसे बलवान् करनेके लियेही पुराणोंकी सृष्टि है । इससे इस बातका अनुभवही नहीं होता कि पुराणकी सदुद्देश्य-सिद्धिके भीतर कहाँ ऐसा हत्याकाण्ड छिपा हुआ है ? वियो-

गान्त नाटकोंमें युद्ध प्रधान घटना हो जाती है और पुराणके प्रकाण्ड व्यापारमें वह छिप जाता है। केवल पुराणपाठका फल ही हृदयमें अनुभूत होता है। यही फल सदाके लिये जीवन को नियमित और शासित करता है।

साहित्यमें प्रेम।

देवत्व।

सीताका प्रेम

यदि साहित्यमें प्रेम देखना चाहते हों तो एक बार सीताकी ओर दृष्टि डालिये। राजर्षि जनकके शान्तिमय संसारमें सीता लालित, पालित और शिक्षित हुई थी। प्रेममय रामके साथ सीताका विवाह हुआ। इसीसे सीता प्रेमकी मोहिनी मूर्ति बन गई। जिस सीताको महाराज रामकी महारानी बननेकी आशा थी वही सीता रामको वनवास होनेके कारण उनकी अनुगामिनी होनेके लिये उठ खड़ी हुई। राम सीताको बन ले जानेमें सहमत नहीं थे; तथापि सीता प्रेमसे अधीर होकर रामके साथ जंगलमें जानेके लिये पहले उठकर खड़ी हो गई। रामने सीताको वनमें रहनेका जो कष्ट और भय दिखलाया था वह सब व्यर्थ हो गया। सीता निर्भय होकर पतिके पीछे चल पड़ी। रामके ही मुखको देखकर बनके कष्टोंको उसने कष्ट नहीं समझा—वह किसी भयसे भीत नहीं हुई। बल्कि रामको ऋषियोंके आश्रम देखनेसे जितना आनन्द होता था उतना ही आनन्द सीताको भी होता था। पतिको जिसमें सुख है, पत्नीको भी उसीमें सुख है। आर्य नारी पतिकी छाया है। जैसे राम आश्रमोंका कष्ट दूरकर बनमें शान्ति

स्थापित करते थे वैसे ही उनके आश्रित रहनेवाली प्रेमलता सीता भी वहाँ प्रेमपुष्प विकीर्ण करती थी। प्रेमालाप और प्रेम-व्यवहारसे सीताने मुनिपत्नियों और मुनिकन्याओंको प्रेम-बन्धनमें बाँध लिया था। वनवासके समय रामके सम्मुख शान्ति पहुँचती तो सीताके सम्मुख प्रेम खड़ा रहता। सीता सर्वत्र प्रेमकी दूतीसी देख पड़ती। सीताका प्रेम विश्वव्यापी था। वह रामके प्रेमकी वैसी ही प्रतिमा थी जैसी कृष्णके प्रेमकी प्रतिमा राधा। अशोक बनमें घोर राक्षसियाँ भी सीताको प्रेमवश हाथ जोड़कर खड़ी हो गई थीं। प्रेमसे शत्रु भी मित्र हो गया। सीताके विश्वव्यापी प्रेमका स्वरूप यदि यथेष्ट रूपसे देखना चाहते हों तो गोदावरी तटकी पञ्चवटीमें चलिये। उस नदीके तटपर रामकी पर्णकुटीमें सीताने नन्दनकानन-का दृश्य उपस्थित कर दिया था। वहाँ इतर जीव भी उससे प्रेम करते थे। वनकी हारिणियाँ सीताके ही हाथसे कुशांकुर खाती थीं। मोर सीताके सम्मुख पूँछ फैलाकर नाचते थे। कपोत कपोती विश्वस्त हो प्रेमालाप करती थीं। बनमृग हिंसाद्वेष छोड़कर सीताके कुसुमकाननमें सुखस्वच्छन्दतासे घूमते थे। प्रेमके काननमें शान्तिका कुसुम कुसुमित होता था। सीताका प्रेम अपार था। जान पड़ता था, जैसे गोदावरी भी सीताके प्रेमका परिचय देती हुई धीरे धीरे मधुर स्वरसे अमृतकीसी धारा बहाती जाती हो। काननकुसुम सीताके लिये झड़ पड़ते थे। सीता उन्हें लेकर अपने पति और वन-देवियोंकी पूजा करती थी। रामको अधिक सुख अयोध्याके राजसिंहासन पर बैठनेमें था या इस कुसम-काननमें था, इस-

का अनुमान करना बड़ा कठिन था। सीताने उस कुसुम-काननमें स्वर्गसुख उत्पन्न कर दिया था। सीताकी पंचवटी प्रेमका एक राज्य थी। मालूम होता है कि कठिन कष्ट उठानेके लियेही सीताने पहले इतना सुख भोग लिया था।

कविकुलगुरु वाल्मीकिने प्रेमका यह अपूर्व चित्र खींचा है। कालिदासकी कण्वाश्रमवासिनी शकुन्तला इसी सीताकी छाया जान पड़ती है। मिल्टनके पैरेडाइजके आदम और ईव (हौवा) का प्रेममय चित्र क्या कभी वाल्मीकिके प्रेमचित्रकी तुलना कर सकता है ? आदम और ईव तत्काल उत्पन्न करके पैरेडाइजके सुन्दर बनमें ला रक्खे गये थे। वे संसारके सुख-दुःख, हिंसा-द्वेष आदि कुछ भी नहीं जानते थे। इससे उनका प्रेम प्रेमही नहीं कहा जा सकता, उनका सुख सुखही नहीं हो सकता। जिनको कुछ ज्ञान नहीं है, उनकी अज्ञानतामें प्रेम रसका उद्बोधही नहीं हो सकता। इसीसे उनके प्रेम और राम-सीताके प्रेममें आकाश पातालका अन्तर है। सीताने दुःखमय काननको प्रेममय बनाकर सुखमय कर दिया था; और ईव सुखमय काननके अयोग्य होनेके कारण उससे निकाल दी गई थी। एकने पापमय संसारको पुण्यमय बना दिया था और दूसरेने पुण्यमय संसारमें पापकण्टक बोकर उसे हिंसा-द्वेषसे भर दिया था।

राधिकाका प्रेम

आर्योंके भक्तिशास्त्रमें एक और भी आदर्श प्रेम है। उसमें मनुष्यके चित्रमें सात्विक प्रेम प्रकट किया गया है। राधा

उस प्रेमकी प्रतिमा है—गोपियाँ उस प्रेमकी सहचरी हैं। राधिका मधुर गोपी-प्रेमका प्रकृष्ट निदर्शन है। पतिपत्नीका प्रेम जहाँ तक उन्नत हो सकता है उस उन्नतावस्थाको राधिकाका प्रेम पहुँचकर कृष्णभक्तिसे परिपूर्ण हो गया था। इसीसे इस भक्तिका नाम प्रेमभक्ति है। दाम्पत्य प्रेमकी परिपूर्णता भगवानको समपर्ण करना ही इसका उद्देश्य है क्योंकि भगवान ही प्राणवल्लभ हैं। राधिका और गोपियोंके अतिरिक्त और कोई नहीं कह सकता कि भगवान हमारे प्राणवल्लभ हैं। सत्यभामाने ऐसा कहा था; पर राधिका-प्रेमी कृष्णने उनका यह दर्प चूर्ण कर दिया था। सत्यभामाका प्रेम दर्पित भक्तिका रूप था। वह राधिकाकी आत्मसमपर्णकारिणी प्रेमभक्तिकी तुलना नहीं कर सकता। रुक्मिणीकी उस भक्तिमें दाम्पत्य प्रेमकी मधुरता मिल गई थी जिससे वह प्रेम पूर्णताको प्राप्त हो चुका था। राधिका उसी प्रेमभक्तिमें उल्लासिनी कृष्ण-लीलामयी, अभिमानिनी, विहारिणी और विलासिनी हो गई थी। उसके लिये कृष्णका प्रेमही संसार था—वही उसका सर्वस्व था। कृष्ण ही राधाके धन, सुख और चिन्ता थे। वह श्यामके प्रेमसे ही मुग्ध थी। श्यामके सहवासकी अभिलाषिणी राधिकाने सब कुछ छोड़ दिया था। कौन राधाको कृष्ण-विरहिणी कह सकता है? वह उन्हींके ध्यानमें सदा मग्न थी—सदा सर्वत्र उन्हींको देखती थी। जो प्रेम एक पलके लिये भी कृष्णसे विमुख नहीं होता उस प्रेमका साधन ही कृष्ण-विरह है। विरहसे ही प्रेमकी परिपुष्टि होती है। कृष्ण-रूपमय वृन्दावनमें कृष्णकथामृत पानकर राधिका मुग्ध हुई थी।

विरहमें राधिकाकी तन्मयता परिपूर्ण हुई थी। राधिकाने प्रकट कर दिया था कि कृष्णविरह असम्भव है। राधाकृष्ण सदा संसारमें कदम्बमूलमें विराजित रहेंगे। राधा कभी कृष्णसे अलग होनेवाली नहीं है।

सीताके प्रेमकी ऐकान्तिकता

सीताका विरह दूसरे ढंगका है। सीताका विरह सुखके वृन्दावनमें नहीं है। किन्तु उस कारागारमें भी सीताने अशोक बनको राममय कर दिया था। इसीसे सीता उसी राममय स्मरणसे जीवित थी। राक्षस-कुलके भयसे सीता और भी एकान्त मनसे रामको स्मरण करती थी। भयने उसकी भक्ति और पतिप्रेमको और भी परिपुष्ट कर दिया था। वह दिनरात रामकी श्याम मूर्तिका ध्यान किया करती थी। सीताकी पतिपरायणता पराकाष्टाको पहुँच चुकी थी। वह निरन्तर सरमाके साथ मधुर वचनोंसे रामकी बातें किया करती थी। अग्निपरीक्षाके समय उस प्रेमप्रगाढ़ताकी परीक्षा हुई थी। रामके प्रेमाङ्कसे विलग होकर सीता इसी आशासे अशोक वनमें जीवित थी कि रामके पुनर्मिलनसे फिर भी उस प्रेमाङ्कको पाऊँगी। उसके जीनेका कारण यही एक प्रेमाशा थी, किन्तु लक्ष्मणने जब जाकर उसे जंगलमें छोड़ दिया तब उसे कौन आशा थी? इतने पर भी सीता आर्यपुत्र रामचन्द्रकी मङ्गलाकांक्षिणी बनी हुई थी। जैसे कोई लता अपने आश्रय स्थानसे उखाड़कर फेंक दी जाय वैसे ही सीता रामाश्रयसे अलग कर दी गई थी। यद्यपि तापसाश्रम अशोक वनके समान नहीं है तथापि यह उससे

भी भयङ्कर है; क्योंकि इसमें आशा बिलकुल नहीं है। तापस-वनमें सीताके निराश प्रेमका चित्र है। रामने स्वयं सीताका त्याग किया था। किन्तु यह त्याग प्रेमत्याग नहीं है। यह प्रजारञ्जन कर्तव्यका बलि कहा जा सकता है। इस विसर्जनसे सीता रामके उद्दीप्त प्रेमका और भी आधार बन गई थी। सीताको उस प्रेमका अभिमान नहीं था तथापि वह रामप्रेमके कारण सभी-के लिये आदरणीय हो गई थी। वह रामके प्रेममें ही दिनरात मुख मलीन किये आँसू बहाया करती थी। वह अपनी सन्तान-की ओर देखकर रामके रूपका स्मरण करती थी और उसी रूपकी पूजा करती थी। सन्तानके ही मुखमें राजीवलोचन रामचन्द्रका मुख देखती थी और झरझर आँसू बहाकर उस निर्जन निवासको डुबाया करती थी। सीता केवल राम-प्रेमसे जीवित होकर उस आश्रममें रहती थी। आश्रमवासके समय सीताका प्रेम कितना प्रगाढ़ हो गया था, यह पाताल प्रवेशके समय स्पष्ट प्रतीत हुआ था। रामके मुखसे फिर भी परीक्षाकी बात सुनकर सीताकी छाती फट गई। पिताके समान वाल्मीकि, अन्यान्य गुरुजन, देवता, पुत्र और सभाके उपस्थित सभ्योंके सामने इस प्रकार मर्माहत होकर वह ठहर न सकी। पृथ्वी फटी और टक लगाकर रामका मुख देखती हुई प्रेम-प्रतिमा सती सीता उसी पृथ्वीरूपी माताके अंकमें जाकर अदृश्य हो गई। सतीके प्रेमकी पवित्र प्रतिमा विसर्जित हो गई।

सतीत्व-गौरव

सतीका पतिप्रेम कितना अलौकिक हो सकता है, यह सीताके दृष्टान्तसे प्रतीत होता है। प्रेममयी सीता कविकी

अपूर्व सृष्टि है। सीता सतीत्व और पतिपरायणताका चूड़ान्त निदर्शन है। आर्य साहित्यने इसी सतीत्व और पातिव्रत्य धर्मके गौरवकी अत्यधिक प्रशंसा की है। इसीसे ये दोनों आर्य नारीके प्रधान बल हैं। सतीके नामसे ही शरीर रोमांचित हो जाता है। सती एक मन और एक ध्यानसे केवल अपने पतिको ही जानती है। पतिनिन्दा सुनकर भवानीने शरीरकी आहुति दे दी थी। सतीने पतिका अङ्गस्पर्श किया था, इसीसे यमराजको भी आगे बढ़नेका साहस नहीं हुआ। सतीने गलित कलेवर पतिको तप्त काञ्चनके समान सुन्दर बना दिया था। सावित्रीने यमलोकसे भी अपने पतिको लौटा लिया था। जब तक आर्य-ललनाएँ सतीत्व गौरवसे परिपूर्ण रहेंगी तब तक वे एक महा-शक्तिके समान विराजती रहेंगी। सती ही यथार्थ पतिव्रता कही जा सकती है। सती स्वयं जैसे देवीके समान है वैसे अपने पतिको भी देवतुल्य समझती है। देवतुल्य समझकर ही वह अपने पतिकी सेवा देवताकी भाँति करती है। आर्य शास्त्रने आर्यदेशको सतीत्व गौरवसे पूर्ण कर रक्खा है। सतीके रहनेसे ही आज भी आर्यधाम पवित्र हो रहा है। इसी गौरवसे हमारी सन्तानें बाल्यावस्थासे ही परिपूर्ण होती हैं। इसीसे गान्धारीने जब अपने पतिके अन्धे होनेका समाचार सुना तब अपने नेत्र सदाके लिये कपड़ेसे ढाँक लिये। साध्वी सावित्रीने विवाह होनेके बाद ही मृत पतिको गोदमें उठा लिया और अन्तमें पुनर्जीवित कराया। आर्यबाला तरुण अव-स्थामें भी पति वियोगसे हाहाकार कर उठती हैं। इस गौरवपूर्ण भारतमें सीता सबकी समादरणीय और पूजनीय हो गई है।

केवल सीता ही क्यों, सभी सतियाँ सीताके ही समान पूजनीया हैं। सती भवानी, पार्वती, सावित्री, अरुन्धती, गान्धारी, दमयन्ती प्रभृति सभी सतियोंने भारतका मुख उज्ज्वल किया है। उनके नाम लेनेसे मनमें पवित्रता उत्पन्न हो आती है। हमने उनमेंसे केवल एकका ही दृष्टान्त दिया है।

जिस सतीत्व और पातिव्रत्य धर्मका गौरव हमारे पौराणिक काव्यों, नाटकों और उपन्यासोंमें बतलाया गया है, जिस गौरवसे परिपूर्ण होकर भारतीय ललनाएँ धैर्य, क्षमा, अध्यवसाय, कार्यचतुरता, बुद्धिमानी और श्रमसहिष्णुता आदि गुणोंके कारण रमणीरत्न समझी जाती हैं और जिससे वे पवित्र होकर देवियाँ कहलाती हैं उस सतीत्व और पातिव्रत्य धर्मका गौरव भारतमें अनेक उपायोंसे रक्षित किया जाता है।

(१) **कथा और गान।** यद्यपि हमारे देशोंमें कथा कहनेकी परिपाटी लोगोंकी अश्रद्धा होनेके कारण उठती जाती है तथापि अब भी कितने ही ऐसे पौराणिक और कथक्कड़ हैं जिनके मधुर वचनोंसे निकले हुए सुन्दर दृष्टान्तपूर्ण व्याख्यानों और कथाओंसे अब भी ये दोनों धर्म स्त्रियोंके मनमें प्रवेश कर बद्धमूल हो रहे हैं। रामायण और महाभारतके संगीतसे भी यह कार्य सम्पन्न हो रहा है। इन दोनों महाकाव्यों और पुराणोंसे आज भी पतिभक्तिकी पतितपावनी गङ्गाकी निर्मल धारा बह रही है। गायक और कथक्कड़ अनेक अलंकारोंसे भूषित कर अपनी वाक्चातुरी और बुद्धिमानीसे इन दोनों धर्मोंके गौरव बढ़ा रहे हैं।

(२) **कथा कहानी**। हमारे घरमें वृद्ध स्त्रियाँ और पुरुष रामायण, महाभारत आदिकी कहानियाँ जबानी कह-कर और जो पढ़ना लिखना जानते हैं वे उन्हें सुनाकर घर घर पातिव्रत्य धर्मके गौरवका खूब प्रचार कर रहे हैं।

(३) **व्रतानुष्ठान**। केवल कहानियाँ सुनाकर ही कन्याओंका मन गौरवपूर्ण नहीं किया जाता था, बल्कि अनुष्ठानमें भी उन्हें दीक्षित करनेके लिये ऋषियोंने अनेक व्रतोंका निर्माण किया। सत्यभामा और सावित्री आदि सतियोंने किस प्रकार व्रतानुष्ठान करके स्वामि-पूजाकी प्रतिष्ठा की थी, आज भी उनकी वे कथाएँ बड़ी बूढ़ी स्त्रियाँ कहा करती हैं। केवल कथा ही तक नहीं कहतीं, उन व्रतोंका स्वयं अनुष्ठान करती हैं और बहूबेटियोंको भी उनमें प्रवृत्त करती हैं। प्रत्येक अनुष्ठान, व्रत और पूजाके अन्तमें जो कथाएँ सुनाई जाती हैं उनमें भी इन धर्मोंके गौरवका गान भरा रहता है।

(४) **दृष्टान्त**। हमारे घरमें बड़ी बूढ़ी समझदार स्त्रियाँ अपने अपने आचरणसे इन दोनों धर्मोंका यथासाध्य पालन करके कन्याओं और बहुओंको उन धर्मोंका गौरव दिखलाती हैं। हमारी बहू बेटियोंके सामने जो कार्य किये जाते हैं उन्हें देखकर वे सब सीखती हैं और उन धार्मोंकी ओर उनकी आप ही आप प्रवृत्ति हो जाती है। यह शिक्षा किसीको प्रयत्न करनेसे नहीं दी जा सकती, दृष्टान्त ही इसके लिये प्रधान आचार्य है।

इन्हीं उपायोंसे हमारे घरमें स्त्रीशिक्षा होती थी। इस

प्रकारकी स्त्रीशिक्षा यथार्थ स्त्रीशिक्षा है। इसी शिक्षाके प्रभावसे हमारी आर्य ललनाएँ अनेक गुणोंसे भूषित होती थीं; और जहाँ विलायती शिक्षाकी प्रणाली नहीं प्रचलित हुई है, वहाँ आज भी उक्त शिक्षाकी प्रणालीका फल देख पड़ता है। यह शिक्षा उस भक्तिपूर्ण पौराणिक साहित्यके पाठसे होती है जिसमें सतीत्व और पातिव्रत्य धर्मका गौरव उज्ज्वल रूपसे वर्णित किया गया है। यह शिक्षा विलायती रुचिपूर्ण उपन्यासों-के पढ़नेसे नहीं हो सकती। इस शिक्षामें ग्रन्थका उतना प्रभाव नहीं पड़ सकता जितना कि कथा-कहानी, आचार, अनुष्ठान और दृष्टान्तका पड़ता है। इन बातोंसे पातिव्रत्यका संस्कार दृढ़ रूपसे हमारी तरुण और तरलमति कुलकामिनियों-के हृदयमें बद्धमूल हो जाता है। ये ही कुलाङ्गनाएँ उस गौरवसे पूर्ण होकर अपने आचरण और दृष्टान्तसे इन दोनों धर्मोंको सजीव बनाये हुई हैं।

प्राच्य और पाश्चात्य सती

किन्तु इस प्रकारकी शिक्षा-प्रणालीमें बहुतसे उलट फेर हो गये हैं। ऐसी सुन्दर प्रणालीके बदले अब विलायती शिक्षा-परिपाटी चल पड़ी है। विलायती साहित्यमें हमारे सतीत्व और पातिव्रत्य धर्मकी बातें रहना तो अलग रहे, बल्कि उसमें उनके विपरीत ही बातें देख पड़ती हैं। और ऐसा होना ही चाहिए; क्योंकि भारतीय ललनाओंके सतीत्व और पातिव्रत्य-के ढंग दूसरे ही हैं। एकमात्र पतिप्रेमसे पूर्ण होकर उसीमें एकनिष्ठ होकर रहना ही भारत-ललनाका सतीत्व है। किन्तु

पाश्चात्य समाजमें ऐसा सतीत्व नहीं है। उस समाजके सतीत्वका रंग रूप इस प्रकार है:—

(१) उस समाजमें स्त्रियाँ अनेक बार पति बना सकती हैं। एक पतिको छोड़कर दूसरा पति बनानेकी रीति होनेके कारण, हिन्दू समाजमें एकनिष्ठताका जैसा गौरव है वैसा पाश्चात्य सतीत्वमें नहीं है।

(२) यूरोपीय समाजमें स्त्रियाँ स्वेच्छानुसार पति चुनती हैं। वे एकको छोड़कर दूसरेको भी पति बनाती हैं। इससे यूरोपमें रमणियोंकी इच्छा ही प्रबल है। वे स्वेच्छानुसार कार्य भी करती हैं। उनकी स्वेच्छाचारिता और स्वतन्त्रता अत्यन्त अधिक है। इन दोनोंसे हिन्दू स्त्रियोंके पातिव्रत्य और सतीत्वका कोई साम्य नहीं है। वे दोनों परस्पर विरोधी हैं।

साहित्यमें पातिव्रत्य

भारतीय समाजने मनुष्योचित व्यवहार संस्थापित करके सतीत्वका इससे कुछ भिन्न ही आदर्श दिखलाया है। वैंही आदर्शभूत साहित्य-गौरव भारतीय साहित्यमें भरा हुआ है। यूरोपीय समाजका सतीत्व आर्य सतीत्वसे भिन्न है। उसमें कोई ऐसी विशेषता न होनेके कारण उसका वर्णन यूरोपीय साहित्यमें नहीं है। उसमें सामाजिक आचार-व्यवहारका ही वर्णन है। ऐसे ही आचार व्यवहारसे परिपूर्ण होनेके कारण यूरोपीय साहित्य पढ़नेसे जो फल होता है उससे हमारे सतीत्वका गौरव क्रमशः ध्वंस होता जा रहा है। हम पहले ही कह आये हैं कि हमारे यहाँकी स्त्रीशिक्षा-प्रणाली भिन्न है। थोड़ी

सा पढ़ लिखकर स्त्रियाँ पुराण आदि पढ़ने लगती थीं और उसी शिक्षा प्रणालीका गौरव बढ़ाती हुई अपनेको आदर्श बना लेती थीं। पढ़ने लिखनेसे भी कोई हानि नहीं थी, क्योंकि प्रकृत शिक्षाप्रणाली वास्तवमें आचरण, व्यवहार, श्रवण और दृष्टान्त इन्हीं चारों बातों पर अवलम्बित थी। पातिव्रत्यधर्म विशेषतः सतीके समस्त आचारों पर ही निर्भर करता है। जिस यूरोपीय समाजमें भारतीय सतीत्वका अभाव है उस स्थानमें भारतीय पातिव्रत्य धर्मका भी अधिकतर अभाव होगा ही। क्योंकि पातिव्रत्य धर्म आर्य सतियोंसे उत्पन्न हुआ है। इस पातिव्रत्य धर्मके कारण जो भारतीय ललनाएँ समस्त गुणोंका आधार बन गई हैं, यूरोपीय ललनाओंमें वे सब गुण बहुत थोड़ी मात्रामें देखे जाते हैं। इससे यूरोपीय साहित्यमें जिस स्त्रीका चित्र खींचा गया है वह स्त्रीचरित्रका चित्र पातिव्रत्यका ज्वलन्त दृष्टान्त नहीं हो सकता। इसका फल यह होता है कि उस साहित्यके पढ़नेसे हमारे पातिव्रत्य धर्मका गौरव कम हो जाता है। उस साहित्यका जितना अनुशीलन किया जायगा उतना ही हिन्दू नारियोंका गुण कम होता जायगा। वस्तुतः हम इसका फल प्रत्यक्ष देख भी रहे हैं।

प्राचीन भारतमें स्वेच्छाचारिताका निदर्शन

यूरोपीय समाजमें जैसा सतीत्व प्रचलित है वैसा ही सतीत्व सभ्यताकी आदिम अवस्थामें प्रचलित होना सम्भव है। इस बातका प्रमाण भी पाया जाता है कि प्राचीन भारतमें स्थान स्थानपर ऐसाही व्यवहार प्रचलित था। दिग्विजयके

समय सहदेव जब प्राचीन माहिष्मती पुरीमें गये थे तब वहाँ-की स्त्रियाँ पुंश्चली थीं और स्वतन्त्र विहार करती फिरती थीं। पाण्डुराज कुन्तीसे कहते हैं:—

"पहले स्त्रियोंमें परदेकी चाल नहीं थी। वे इच्छानुसार घूमती-फिरती और विहार करती थीं। उन्हें किसीकी अधीनतामें कालक्षेप नहीं करना पड़ता था। काम और द्वेषसे हीन तिर्यग् योनिके जीव जिस धर्मके अनुसार कार्य करते हैं, वे भी उसी धर्मके अनुसार चलते थे। उत्तर कुरुमें आज भी यही धर्म प्रचलित है।"

इसके बाद श्वेतकेतुका वृत्तान्त दिया गया है। पाण्डुने भी कहा है कि स्त्रियोंकी स्वतन्त्रा और स्वेच्छाचारिता तिर्यग् योनिके जीवोंकी सी है। इसी व्यवहारको छोड़कर भारतने एक दिन उन्नति की थी और देवत्व प्राप्त किया था। क्या उसी देवत्वको छोड़कर हम फिर तिर्यग् योनिके व्यव-हारका ही अवलम्बन करेंगे?

आर्य सतीकी पवित्रता

यूरोपीय साहित्यमें मानव प्रकृतिकी स्वाभाविक स्वेच्छा-चारिताकी बड़ी प्रबलता है। आर्य साहित्यमें प्रेमने मानव प्रकृतिको उच्च बनाकर पवित्र कर दिया है। महाश्वेताका प्रेम पवित्र होकर देवाराधनमें परिणत हो गया है। महाश्वेता देवा-राधनाकी मूर्ति—प्रेमकी पवित्र प्रतिमा है! अच्छोद सरोवरके तीरपर गहन काननके अन्दर देवमन्दिरमें महाश्वेता देवी है या मानवी? देवपूजाके छलसे वह एक मन, एक प्राण होकर

किसकी पूजामें लगी हुई है? पतिप्रेममें या पतिकी आराधनामें? बाणभट्टकी महाश्वेतामें जैसी पवित्रता है वैसीही पवित्रता कालिदासकी उमाके चरित्रमें भी है। अप्सराके कुलमें शकुन्तला भी वैसीही पवित्र है। उसके पवित्र स्पर्शसे मानव प्रकृति भी पवित्र हो गई है।

आर्य सतीका आत्मोत्सर्ग
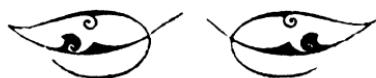
सतीमें पतिका अनुराग इतना प्रबल रहता है कि वह उससे पूर्ण होकर अपना अस्तित्व भी भूल जाती है। प्रेममें आत्मविस्मृत होकर सती अपने पतिके साथ सब विषयोंमें लवलीन हो जाती है। पतिकी इच्छामें अपनी इच्छा और पतिके सुखमें अपना सुख समझती हुई सती दाम्पत्य प्रेमकी पराकाष्ठा दिखला देती है। आर्योंके घरमें पतिके साथ पत्नीका स्वार्थ एक, सुख एक और स्वर्ग एक है। यदि इस प्रकार एकता न हो तो दम्पति एक कैसे हो सकेंगे? यूरोपमें स्वार्थकी विभिन्नता, रुचि विभिन्नता और पारलौकिक इष्ट-साधनकी विभिन्नता होनेके कारण भारतीय दाम्पत्य प्रेममें जैसा आत्मोत्सर्ग, जैसी एकनिष्ठता और जैसी एकाग्रता देखी जाती है, वैसी सब बातें पाश्चात्य दाम्पत्य-प्रेममें कहीं पाई जायँगी? वहाँ पति-पत्नीमें विच्छेद होनेकी ही अधिक सम्भावना रहती है। किन्तु भारतीय ललनाएँ सब प्रकार एकाग्र मनसे पतिकी अनुगामिनी होकर पतिकी सहधर्मिणी होती हैं। सब प्रकारसे पतिकी ऐसी सहधर्मिणी बननेका सौभाग्य यूरोपीय ललनाओंको नहीं है। इष्ट वस्तुकी विभिन्नता उन्हें

अलग कर देती है। इसीसे आर्य सतियोंकी सी प्रेमकी प्रगाढ़ता हम यूरोपीय साहित्यमें नहीं देखते। सहधर्मिणीका देव-तुल्य सतीचरित्र केवल आर्य साहित्यमें ही देखा जाता है। उस प्रेमचित्रमें देखा जाता है कि सती केवल इस जीवनमें ही पतिके साथ मिलकर एक होना नहीं चाहती, बल्कि उसकी एकान्त इच्छा ऐसी बनी रहती है कि हम परलोकमें भी एक होकर देवत्व और अमरत्व लाभ करें।

पतिप्रेमसे विश्वपतिका प्रेम

पतिभक्तिमें सती जो आत्मोत्सर्ग करती है वही भगवद्-भक्तिका निदान है। जबतक आदमी भगवानमें इस प्रकार लवलीन नहीं होता तबतक भगवद्भक्ति-प्रीतिका लाभ होही नहीं सकता। जिस भगवत्प्रेममें भक्त अपनेको भगवानके चरणोंमें विसर्जित कर देता है, उसकी इच्छामें अपनी इच्छा मिला देता है, उसके सुखमें अपना सुख समझता है और उसके कार्यमें अपना जीवन त्याग देता है, उसी भगवत्प्रेमकी छाया सतीकी पतिभक्तिमें देख पड़ती है। इसीसे सती देवीके समान जान पड़ती है। सीता और राधिका दोनों इस द्विविध प्रेमके आदर्श हैं और दोनों ही परस्पर प्रतिबिम्ब हैं। इनमें भेद इतनाही है कि सीताका प्रतिप्रेम अत्यन्त उज्ज्वल है। वह ऐसा उज्ज्वल है कि उसमें देवभक्ति एक दम छिप गई है; और राधिकामें भगवत्प्रेम इतना उज्ज्वल है कि उसमें पार्थिव पतिप्रेम छिप गया है। पतिप्रेम ही भगवत्प्रेममें परिणत हो गया है। इससे राधिकाकी भक्ति प्रेमभक्ति हो गई है।

प्रेमका यही क्रम आर्य साहित्यमें है। साहित्यमें ही नहीं, आर्य समाजमें भी यही क्रम है। आर्य समाजमें जो स्त्री विधवा हुई उसके पति जगत्पति ही हैं। उसका दाम्पत्यप्रेम और पतिभक्ति सहजही भगवद्भक्तिमें परिणत हो जाती है। जिस प्रकार सहजमें यह परिणति हो सके ठीक उसी प्रकार समाजकी रीति-नीतिमें रहकर आर्य नारी पतिभक्तिकी सहायतासे देवभक्तिका अभ्यास करती है। वह स्वामीको प्रणयकी परम वस्तु मानकर उनकी सेवा और पूजा तथा आदर और यत्न करती है। स्वामीकी प्रतिमापूजाके कारण देवप्रतिमाके पूजनमें उसका सहज ही अभ्यास हो जाता है। जो आर्य ललना देवप्रतिमा-पूजनमें अत्यन्त अनुरक्त रहती है उस देवभक्ति भरी सतीके लिये स्वामीपूजा अत्यन्त सहज है। इसीसे वह स्वामीकी पूजा करके देवताकी पूजा करती है। आर्य साहित्यमें यदि देखा जाय तो सतीप्रेममें देवत्वका ही सौन्दर्य देख पड़ेगा।

साहित्यमें प्रेम।

पशुत्व।

सती-प्रेमका लक्षण

आर्य कवियोंने अनेक आदर्शोंकी सृष्टि की है। उनमें आर्य सतियोंके चरित्रमें जिस प्रेमादर्शकी सृष्टि की है उसकी समालोचना हम पूर्व प्रस्तावमें कर आये हैं। उसमें कहा गया है कि सतियोंका प्रेम गोपियोंके प्रेमके तुल्य है। उसमें वैसाही निःस्वार्थ भाव है, वैसी ही एकनिष्ठता है और वैसा ही स्वामीका गौरव। इसी भावसे परिपुष्ट होकर वह देवभक्तिमें परिणत हो जाता है। तब वह प्रेम देवभावमें परिणत होकर मनुष्यको देवत्व लाभ करा देता है। इस सती-प्रेमकी आलोचना करनेसे प्रेमतत्वको भली भाँति समझ सकते हैं।

(१) कामानुरागसे प्रेम एकदम भिन्न है। पतिको सुखी बनाकर सती आप सुखी होना चाहती है। वात्सल्य प्रेमका जो उच्च धर्म है वही सती-प्रेमका भी लक्षण है। जिस प्रकार सन्तानको सुखीकर माता पिता सुखी होते हैं उसी प्रकार पतिके सम्बन्धमें भी सतीका अनुराग होता है। इससे प्राकृतिक प्रेम यह नहीं चाहता कि हम स्वयं सुखी हों। वह केवल प्रणयपात्रको ही सुखी करना चाहता है। उसी सुखसे प्रेमकी

परितृप्ति होती है। किन्तु काम इस प्रकार धर्मपूर्ण नहीं है। कामानुराग दूसरेके द्वारा आप सुख सम्भोग करना चाहता है। इन्द्रिय-लालसाकी परितृप्ति करके काम चरितार्थ होना चाहता है। प्रेम परार्थपर है और कामानुराग स्वार्थपर।

(२) प्रेमके परार्थपर होनेके कारण ही सती अपने पतिके गुण-दोषमें निरपेक्ष रहती है। गुण देखकर जो प्रेम करेगा वह दोष देखकर घृणा भी करेगा। दोष सभीमें रहता है, इससे रूपज और गुणज अनुराग स्थायी नहीं होता। किन्तु प्रकृत प्रेम गुण-दोषका पक्षपाती नहीं होता। मातापिता अपनी सन्तानके दोषगुणसे निरपेक्ष होकर उनका आदर, यत्न और स्नेह करते हैं, उनका प्रेम सन्तानके दोषगुणसे जैसा निरपेक्ष बना रहता है वैसा ही सतीका प्रेम भी दोषगुणसे निरपेक्ष रहा करता है। मातापिताके स्वाभाविक प्रेमका जो यह अपक्षपात है वही सती-प्रेमका आदर्श है। इसीसे मनुने कहा है कि पतिमें भले ही हजारों दोष हों, किन्तु वह सतीके लिये परम पूजनीय है। केवल मनु ही क्यों, महाभारत आदि सभी आर्य ग्रन्थोंमें सर्वत्र यही उपदेश है। प्रेमके इस उच्च शिखरतक कामानुराग कभी नहीं पहुँच सकता। कामानुराग रूप और गुणके वशीभूत रहता है। रूप चिरस्थायी नहीं होता और गुण अत्यन्त दोषविहीन होही नहीं सकता। इससे उसके पात्र अपात्रका सदा परिवर्तन हुआ ही करता है। आज जिसे सुन्दर और गुणी समझ, कामनाने उसे अपनाया, कल एक अन्य व्यक्ति उसकी अपेक्षा भी अधिक गुणवान् और रूपवान् देख पड़ा। ऐसा होते ही कामनाकी

प्रबल प्रवृत्ति उसकी ओर झुक पड़ी। कामना स्थिर नहीं, चञ्चल है। किन्तु प्रेमका धर्म है स्थिरता। प्रेम निश्चल और एकनिष्ठ होता है। क्योंकि वह दोषसे विचलित नहीं होता, गुणका पक्षपाती नहीं बनता। इसी लिये आर्य सतीका प्रेम अत्यन्त अनुरागपूर्ण, स्थिर अचञ्चल और एकनिष्ठ होता है; किन्तु कामान्धोंका अनुराग सर्वदा अस्थिर और विचलित होता रहता है।

(३) प्रकृतप्रेम निःस्वार्थ और एकनिष्ठ होनेके कारण आकांक्षा-रहित रहता है। जो दोषगुणसे निरपेक्ष रहता है, जो दूसरेसे सुखी होना नहीं चाहता, उसकी आकांक्षा ही क्या होगी? सतीका प्रेम कोई व्यवसाय नहीं है—वह बदला नहीं चाहता। सती यह कभी नहीं कह सकती कि पहले तुम प्रेम करो, फिर मैं भी प्रेम करूँगी। पहले दो तो पीछे ग्रहण करो। प्रकृत प्रेम इस प्रकारका कोई विनिमय व्यापार नहीं है। क्या शकुन्तलाने पेड-पौधों और पशुपक्षियोंसे प्रेम-कर उनसे कुछ बदला चाहा था? पतिका प्रेम सराहनीय है; पर ऐसा नहीं है कि पतिका प्रेम होनेसेही सती अपने पतिका प्रेम करे। हाँ, यह बात अवश्य है कि सती-प्रेमके साथ पति-प्रेमका संयोग हो जाय तो मणिकाञ्चनका संयोग हो जायगा, किंशुकमें सौरभ भर जायगा; केतकी कण्टकशून्य हो जायगी; चन्दनमें फूल खिल जायँगे और ऊखमें फल लग जायगा। ऐसा न होनेपर भी सती अपने पतिसे प्रेम करती है।

"प्रेम तुम्हारे करनेहीसे मैं भी कहो, करूँगी प्रेम?
तुम्हें छोड़कर और न जानूँ यही है मेरा नेम॥"

वात्सल्य प्रेम जैसा निःस्वार्थ रहता है वैसा ही निःस्वार्थ दाम्पत्य प्रेम भी होना चाहिए। बालबच्चे सयाने होने पर हमारी रक्षा करेंगे, क्या इसी आशासे माता पिता सन्तानसे स्नेह करते हैं ? वे अपत्य प्रेमकी प्रतीक्षामें बैठे नहीं रहते। वे कब यह चाहते हैं कि जब हमारे लड़केवाले प्रेम करना सीख लेंगे तभी हम उनसे प्रेम और उनका यत्न करेंगे ? नहीं, वे उनके प्रेमकी अपेक्षा न करके अपने अपत्योंको प्राण-की अपेक्षा भी अधिक प्यार करते हैं। आर्य सती भी जब सुयोग्य वरके साथ पिता द्वारा ब्याह दी जाती है तब वह पतिगृहमें आकर पतिप्रेमकी प्रतीक्षा करके बैठी नहीं रहती। उसमें यह भाव नहीं होता कि जब पति मुझसे प्रेम करेंगे तभी मैं भी उनसे प्रेम करूँगी। वह विवाहके बाद ही पतिसेवामें लग जाती है और उसे तन-मन-धन समझकर आदर करती है। वह समझती है कि पति ही मेरा जीवन-सर्वस्व है। पतिका प्रेम भी उससे होता है। पति भी पत्नी-प्रेमकी प्रतीक्षामें बैठा नहीं रहता। विवाहके बाद ही पति भी पत्नीको स्नेह-से देखने लगता है। क्योंकि वह अपनी पत्नीको जिस प्रकार सहधर्मिणी कह सकता है उस प्रकार कोई अँग्रेज अपनी पत्नीको "अपनी" नहीं समझ सकता। अँग्रेजोंमें पतिपत्नीका सम्बन्ध चिरकालिक नहीं होता। यदि इस देशमें भी विवाहकी वह प्रथा होती तो ऐसा ही होता। आर्योंका दाम्पत्यप्रेम विनिमयविहीन और प्रेमाकांक्षासे रहित होता है। किन्तु कामानुराग ठीक इसके विपरीत होता है। वह अनुराग पर-मुखापेक्षी होता है। दूसरेका प्रेम न होनेपर कामानुराग उद्दीप्त

नहीं होता। वह बदलेका व्यापार है। बिना अदलाबदलीके पशुपक्षियोंमें प्रेम नहीं होता, इसीसे ऐसे प्रेमको पाशव प्रेम कहते हैं। प्रकृत प्रेमके समान कामानुराग निराकांक्ष नहीं है। प्रेम एक और कारणसे फिर भी कामानुरागसे भिन्न हो गया है। सती पतिगौरवसे परिपूर्ण होती है। जैसे ब्रजबालाएँ जानती थीं कि श्रीकृष्णके समान महान् और कोई नहीं है, वैसे सतीके लिये भी पतिका गौरव है, बल्कि उससे भी बढ़ा चढ़ा है। माताके लिये सन्तान सबसे प्रिय है और माता भी सन्तानके लिये बड़े गौरवकी चीज है। इससे प्रकृत प्रेम महत्त्व-ज्ञानसे पूर्ण ठहरा। कौन कहता है कि बिना समानताके प्रेम नहीं होता? नौकर मालिकको चाहता है और मालिक नौकरको। गुरु अपने शिष्यसे प्रेम करता है और शिष्य गुरुसे। सम्बन्धमें ऊँच नीच होनेके कारण प्रेममें बाधा नहीं होती। प्रेमपात्र प्रेमीके लिये बड़ी चाहकी चीज है—उसके लिये उसे बड़ा दर्द रहता है। यदि उसे कोई नीचा बनाना चाहता है तो प्रेमीको वह सह्य नहीं होता। वह झल्लाकर कह उठता है कि क्या वे मेरे कोई नहीं हैं? उनकी अपेक्षा बड़ा कौन है? वह अपने प्रेमपात्रको सादर देखता है। वह उसके लिये सोनेका है। पारसमणिके समान, प्रेम जिसको स्पर्श करता है वह भी सोनेका हो जाता है। किन्तु कामानुरागका धर्म स्वतन्त्र है। जहाँ वास्तविक उच्चता और नीचता है, वहाँ कामानुराग अपने विषयको समान कर लेता है और साम्य भावमें लाकर बदला चाहता है। काम उच्चको नीच और नीचको उच्च बना देता है। जब छोटा तो बड़ा

और बड़ा छोटा हो जाता है तब कामानुराग सञ्चारित होता है ।

प्रकृत प्रेमके साथ कामानुरागकी ऐसीही विभिन्नता है । प्रेम मनुष्यको देवता और कामानुराग मनुष्यको पशु बना देता है । स्वयं प्रेममय भगवान मनुष्यमें प्रेम-रूपसे देख पड़ते हैं । मनुष्य इस देवांशको जितनाही बढ़ाता है वह प्रेममयके उतनाही निकट होता जाता है—उसके साथ उतना ही सम्मिलित होता जाता है । किन्तु वह जितनाही कामके परतन्त्र होता जाता है उतनाही वह निज प्रकृतिको पशु-भावमें परिणत करता जाता है ।

आर्य-साहित्यमें काम

आर्य साहित्यमें सती-प्रेमके धर्मका कैसा चित्र खींचा गया है, इसका कुछ दिग्दर्शन हमने यहाँ कराया है । उस प्रेमके साथ कामानुरागकी विभिन्नता दिखानेका कारण यह है कि आर्य साहित्यमें उक्त दोनों प्रकारके प्रेमके चित्र खींचे गये हैं । हमारे कहनेका आशय यह नहीं है कि आर्य साहित्यकी जड़में इन्द्रिय-लालसाका चित्र है ही नहीं । हम यह कहते हैं कि उस चित्रमें जो कलङ्क और जो गौरव है वह जैसाका तैसा साहित्यमें चित्रित किया गया है । जो पापचित्र है, जिसमें पशुत्व है वह उसी रूपमें अङ्कित किया गया है । इन्द्रको देवता होनेपर भी शाप मिला था और अहल्याको भी पापका फल भोगना पड़ा था । चन्द्रमा और ताराका प्रणय भी वैसा ही घृणित है । वे भी पापसे कलङ्कित हैं । देवतामें

भी भेद नहीं किया गया है। देवता भी कभी कभी पापसे कलङ्कित हुए हैं। जहाँ कोई महान् कार्य साधनेकी आवश्यकता हुई है, आर्य साहित्यमें केवल वहीं कामानुरागका चित्र खींचा गया है। यह काम कहीं बुरे भावसे नहीं किया है। किसी महात्माकी उत्पत्तिकी आवश्यकता होनेपर कामका उद्भाव हुआ है। जब तक उद्देश्य सिद्ध नहीं होता तभी तक उसकी स्थिति बनी रहती है। उसके बाद ही उसका अन्तर्द्धान हो जाता है। जहाँ आसक्ति और लालसा है वहीं पाप है। आसक्ति-हीन काम पापसे कलङ्कित नहीं होता।

गीतामें लिखा हुआ है कि आसक्ति-हीन कार्यका कोई कर्मफल नहीं होता—न पाप होता है और न पुण्य। क्योंकि प्रत्येक स्वाभाविक कार्य स्वतः दैहिक कार्य मात्र है। जब वह कार्य आसक्ति और अनुरागसे युक्त होता है तब वह पाप-पुण्यका फल-दाता होता है। पाप-पुण्यकी यह सूक्ष्मता हमारे शास्त्रोंमें सर्वत्र दिखलाई गई है। इसी सूक्ष्मताको दिखानेके लिये हमारे आर्य कवियोंने देवता और मनुष्यके दृष्टान्तमें कामकी अवतारणा की है। समूचा महाभारत गीताके सूक्ष्म तत्वोंका स्थूल दृष्टान्त है। स्वभाव-जनित, आसक्ति-रहित और पाप-पुण्य-हीन दैहिक कार्यके कारण ही व्यासका जन्म हुआ है। व्यास ऐसे महात्माकी उत्पत्तिके लिये ही मत्स्य-गन्धाके साथ पराशरका क्षणिक मिलन हुआ था। इसी प्रकार भरत, शकुन्तला और कार्तिकेयके जन्मके लिये दुष्यन्त, विश्वामित्र और शङ्करके शरीरमें कामका क्षणिक आविर्भाव हुआ था। पाण्डुराजने पाप पुण्यके ये सूक्ष्म तत्व कुन्तीको

समझाकर देवताओंके सत्वसे पाँचों पाण्डवोंका आविर्भाव करा लिया था। बलिराजने अन्ध मुनिसे अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग प्रभृति पाँच पुत्रोंको जन्म दिलवाया था। जो अन्ध मुनि कुछ भी नहीं देख सकते थे उनकी रूपके प्रति आसक्ति होना कभी सम्भव नहीं है। ये स . दृष्टान्त पापपूर्ण कामके दृष्टान्त नहीं हैं।

यदि यह कहो कि क्या आर्य साहित्यमें गान्धर्व विवाह का चित्र नहीं है ? क्या पहले आर्य ललनाएँ स्वयम्वरा होकर अपने अभिलषित पात्रको जयमाल नहीं पहनाती थीं ? क्या यह स्वयम्वर चित्र आर्य साहित्यमें नहीं है ? है, अवश्य है। किन्तु स्वयम्वरकी प्रथा केवल राजकुलमें ही थी। साधारण जन-समाजमें यह प्रथा थी कि नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। जो चित्र हमारे साहित्यमें चित्रित किये गये हैं उन्हींकी बात यहाँ की जाती है। उन चित्रोंमें देखा जाता है कि राजकन्याएँ ही स्वयम्वरा होती थीं, पर सब ऐसी नहीं थीं। राजकुलमें इस प्रथाके प्रचलित होनेसे प्राचीन वीर समाजमें एक महान् सामाजिक उद्देश्य सिद्ध होता था। वह एक प्रकारकी राजनीति थी —वही राजनीति जिसके प्रभावसे राजाओंमें ड्राइडेन (Dryden) का यह गीत सर्वदा उच्च स्वरसे गाया जाता था। गीत यह है—

"None but the brave deserve the fair"

"सुन्दरियाँ वीरोंके ही लिये हैं।"

स्वयम्वर-सभामें जब राजा लोग किसी सुन्दरीको प्राप्त करनेके लिये एकत्र होते थे तब उनके केवल गुणोंका ही परिचय कराया जाता था। सुनन्दाने एकत्र राज-समाजका

गुण वर्णन करके ही इन्दुमतीको रघुवंशी अजके गलेमें जय-माल देनेको उत्सुक किया था। शिवधनुर्भङ्ग और लक्ष्यभेद न करके अथवा ऐसे ही अन्य प्रकारकी महावीरताका परिचय दिये बिना, कोई सीता और द्रौपदीका पाणिग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हुआ था। केवल स्वयम्बर-सभामें ही रूप, गुण और वीर-ताका परिचय देनेसे काम नहीं हो जाता था। जो सुन्दरी-रत्नको प्राप्त करते थे उन्हें उस सुन्दरीको लेकर घर चले जाना बड़ा दुःसाध्य हो जाता था। सुन्दरी जिन राजाओंका स्वयम्बरमें तिरस्कार कर देती थी वे राजा उस जयमालधारी भाग्यवान् भूपतिपर आक्रमण करते थे। जब सब राजा युद्धमें हार जाते थे तभी उस सुन्दरी-को घर ले जाना सम्भव होता था। यह साधारण बात नहीं है। विवाहके इस प्रकारके घोर महाव्यापारके भीतर सुन्दरी अपना पात्र ठीक करती है। स्वयम्बर सभामें जो राजा इकट्ठे होते थे उनके गुणावगुणका परिचय होनेसे, कौन सबसे बढ़ा चढ़ा गुणवान् है, केवल इसीका पता नहीं लगता था; बल्कि जो न्यून गुणके कारण हीन हो जाते थे उनका मुख सभामें कैसा म्लान हो जाता था, वे कैसे लज्जित होते थे, इसका चित्र भी आर्य साहित्यमें खींचा गया है। क्या यह विवाह है? यह तो राजा-ओंकी परीक्षाकी एक रीति है। वीर समाजमें यह वीरजनो-चित रीति पहले प्रचलित थी। आर्य साहित्यमें जहाँ जहाँ विवाहका इस प्रकारका वर्णन है वहाँ वहाँ वीर प्रभृति उग्र रसोंका इतना संचार होता है कि मन उसकी ओर एकदम आकृष्ट हो जाता है। इन्द्रिय-लालसा या कामानुराग वहाँ कहीं अनुभूत नहीं होता।

आर्यगण कामको प्रकृत प्रेमसे यथेष्ट विभिन्न समझते थे। इसीसे काम और प्रेमका जो धर्मनैतिक कलङ्क और गौरव है उसका उन्होंने साहित्यमें अच्छी तरह दिग्दर्शन करा दिया है। काम किस प्रकार पापस्पृष्ट होता है और किस प्रकार नहीं, इस बातको वे अच्छी तरह समझते थे। इसीसे उन्होंने अनुरागकी वह मूर्ति स्पष्ट करके दिखा दी है। सूक्ष्मदर्शी आर्य कवि धर्मके सूक्ष्म तत्वको समझते थे। इसीसे उन्होंने ऐसी सूक्ष्मता दिखाई है और इसके लिये कामकी विभिन्न मूर्तियोंकी अवतारणा की है। जहाँ जैसा चित्र खींचा है वहाँ यदि काम वस्तुतः पापपूर्ण है तो उसे वैसा ही कलङ्कित रूप दिया है। जहाँ पापचित्रके साधारण स्पर्शसे साहित्यके गौरव-की हानि हुई है वहाँ किसी अन्य रसके संचारसे उस गौरव-को दुगुना बढ़ा दिया है।

सतीका सख्य-प्रेम

पाश्चात्य साहित्यमें एक दूसरा ही चित्र है। उस साहि-त्यमें प्रेमका चित्र है ही नहीं, यह हम नहीं कहते। पर उस चित्रकी मूर्ति और ही है। हमने आर्य साहित्यमें वर्णित सती-प्रेमको धार्मिक दृष्टिसे जैसा विचारकर दिखलाया है वैसा धर्मभावपूर्ण दाम्पत्य प्रेम पाश्चात्य साहित्यमें अत्यन्त दुर्लभ है। उस साहित्यमें जो प्रेम है वह सख्य प्रेम है। सखाके साथ सखाका, समानके साथ समानका जो प्रेम होता है उसी प्रेम का चित्र उसमें है। यह सख्यप्रेम बड़ाही सुन्दर है। यह मधुर सख्यभाव आर्य सतियोंमें भी है। किन्तु वह

स्त्रीभावके ही अधीन है। स्वामी सतीके परम सखा हैं और सती भी स्वामीकी परम सखी है। उसी सख्य प्रेममें दोनों लवलीन हैं। सती स्वामीके आदरसे आदरवाली बनती है; और स्वामी भी सतीके आदरकी बड़ी सामग्री है। उनके विश्वसनीय कार्य और प्रिय सम्भाषणमें सारा समय बीतता है। किन्तु उस मधुर प्रेमकी मधुरताके साथ सतीकी अधीनता और स्वामीका देवभाव सदा मिला रहता है। सख्य भावके साथ भक्तिका मिलना ही आर्य प्रेमका एक परम सौन्दर्य्य है। सख्य भावसे उसकी मधुरता और भक्तिसे पवित्रता टपकती रहती है। मधुरताके साथ इस मर्यादाका मेल होनेके कारण आर्य नारी एक रमणीय सामग्री बन जाती है। पति शुश्रूषाके समय परम पूज्य देवता है और संलापके समय परम सखा। आर्य नारीका घमण्ड, अहङ्कार सब कुछ स्वामीके ऊपर निर्भर है। मानिनी नारी अपने स्वामीके बड़े आदरकी सामग्री है। मानिनियोंके लिये राजगृहमें एक स्वतन्त्र सुन्दर मानभवन या कोपभवन अलगही बना रहता था। बात बातमें आर्य नारीका अभिमान प्राणपति स्वामीके ऊपर होता है। सारा राज्य देकर भी यदि मानिनियोंका मानभङ्ग होता तोभी उनके प्राणपति ऐसा करनेसे कभी हिचकते नहीं थे। दशरथने कितने प्रकारके परितोषके वचनोंसे कैकेयीका मानभङ्ग किया है, इसका उज्ज्वल चित्र वाल्मीकिने खींचा है। चित्र-दर्शनके अङ्कमें कैसा मधुर आलाप करके सीता प्रिय सखा रामचन्द्रके साथ स्वामिसुखका अनुभव करती थी, इसका सुन्दर चित्र भवभूतिने उत्तर रामचरितके प्रारम्भमें ही

खींचा है । अयोध्या लौटनेके समय रामचन्द्र विमानके ऊपर कैसे सुखसंलापके साथ अपनी पहली कीर्ति दिखाते जाते हैं, कालिदासने अपनी अतुलनीय लेखिनीसे रघुवंशमें उसका बड़ाही मनोहर वर्णन किया है । जब इन सब दाम्पत्य प्रेमोंमें सख्यभावकी मधुरताका मेल हो जाता है तब एक ऐसे अपूर्व सुखका अनुभव होता है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता । किन्तु इस सख्य मधुरताका आनन्द लूटनेमें सीता रामचन्द्रके साथ ऐसे सम्मानके साथ बातचीत करती है जिससे मालूम होता है कि यदि आवश्यक हो तो वह अभी रामचन्द्रकी पूजा करने लगेगी । जिस मानिनी कैकेयीने गर्व भरी बातें कहकर दशरथको दारुण प्रतिज्ञामें जकड़ लिया था वही इसके पहले देवताके कार्यमें दशरथकी सहायता करके उनसे प्रसन्नतापूर्वक वर पानेके योग्य हो गई थी । श्रीकृष्णने पैर पकड़कर राधिकाका मानभङ्ग किया था, पर राधिका कृष्णकी पूजा करती थी । भक्तिके साथ सख्य प्रेमको मिलाकर आर्य नारी स्वामि-सुखका जैसा सम्भोग करती है उसी प्रेमका चित्र हमारे आर्य साहित्यमें है । यहीं हमारे साहित्यकी रमणीयता है । उसी सौन्दर्यमें स्वर्गकी पवित्रता, नन्दनकाननकी शोभा और वसन्तकी मधुरता दिखाई पड़ती है ।

विलायती प्रेम

किन्तु पाश्चात्य साहित्यमें कैसा प्रेम है ? वहाँ केवल सख्य प्रेम है । उस सख्य प्रेममें आर्य नारीकी ऐसी भक्ति नहीं है—सतीका वह निःस्वार्थ, वह एकनिष्ठ, वह आकांक्षा-रहित और वह गौरव-परिपूर्ण प्रेम नहीं है । उस प्रेममें सख्य भावका वह

विश्वस्त प्रेमालाप है, वह मधुरता है, वह दर्प और अभिमान है। यह सब कुछ है पर उसमें आर्य नारीका वह भक्तिमय एकनिष्ठ पुण्यका प्रतिबिम्ब नहीं है जिससे प्रेम पवित्र और देवोचित हो। उसमें मानव प्रकृतिका आनन्द है, किन्तु देव-प्रकृतिका सौन्दर्य्य नहीं है। इस आनन्दके साथ विमल शोभाका विकास होनेसे ही सौन्दर्य्यकी परिपूर्णता होगी।

पाश्चात्य साहित्यमें प्रेम-सौन्दर्यकी यही कमी है। यह प्रेम-सौन्दर्य्य अनेक स्थानोंमें, इन्द्रिय-लालसाके विलासक्षेत्रमें-ही प्रस्फुटित हुआ है। उस साहित्यके ऐसे विलासक्षेत्र ही अनेक देशोंमें कलङ्कका बीज बोनेवाले हैं। उस साहित्यमें प्रेम-नदी विलासितासे कलुषित होकर बह रही है। आसक्ति-परिपूर्ण कामने प्रेमकी विशुद्ध नदीको कलुषित कर दिया है। शत्रुकी प्रबलतासे प्रकृतिकी गति मन्द पड़ जाती है। अनेक स्थानोंमें प्रकृति शत्रुकी दासी बन गई है। मानव-प्रकृति-का पाशव भाव इतना प्रबल है कि उसमें प्रकृतिका देवभाव एकदम निबल हो जाता है। यहाँ अब इसी बातकी समालो-चना की जाती है।

जिस सीताको हम आर्य साहित्यमें देखते हैं, पाश्चात्य साहित्यमें वह सीता कहाँ है? वाल्मीकिकी सीताके स्थान पर पाश्चात्य साहित्यमें होमरकी हेलनका नाम लिया जा सकता है; पर ऐसा करना स्वर्गके स्थान पर नरकका नाम लेनेके समान होगा। शेक्सपियरको ही लीजिये। हम जिसे प्रेम नहीं कह सकते उसीका चित्र उसमें देख पड़ता है। पहले रोमियो रोसोलिण्डके रूपपर इतना मुग्ध हुआ कि उसे

दिनरात चैन नहीं। उसके चित्तकी शान्ति जाती रही। गरम गरम उसास आने लगे। आँखोंसे आँसू बह चले। किन्तु ज्यों ही उसकी नजर जूलियट पर पड़ी त्यों ही वह पलट गया! यह आश्चर्य्यमय परिवर्तन एक रातमें ही हो गया। फिर जूलियटके लिये भी वही बेचैनी उसे हुई। वह विकल होकर जूलियटके घरके चारो ओर मँड़राने लगा। अन्तमें छिपकर वह खिड़कीके पास गया। डेमिट्रियस भी हार्मियाको देखकर ऐसा ही विकल हुआ था। ऐसा होते ही हेलेना उसके हृदयसे लोप हो गई। शेक्सपियरको छोड़कर दूसरा कौन इस प्रकारका प्रेमचित्र खींच सकता है?

वाल्मीकिने पहले धर्मवीर रामचन्द्रका चित्र खींचा है और उस चित्रसे मनुष्योंका मन मुग्धकर उसमें धर्मवीरता भर दी है। इसके बाद इन्द्रिय-परायण रावणकी प्रतिमूर्ति खींची है। धर्मवीरतासे मोहित होकर मनुष्य स्वभावतः रावणको घृणाकी दृष्टिसे देखता है। इसी प्रकार रामायणमें पहले सीताका पवित्र और सुन्दर चित्र अंकित किया गया है। जो मन पहले सीताके सौन्दर्य्यसे मुग्ध हो जायगा वह मन इन्द्रिय-परायण, काममुग्ध और निर्लज्ज शूर्पणखाके स्वभावसे आप ही आप घृणा करेगा। इससे यदि शूर्पणखाकी नाक काटी जाय तो उस कामको सभी अच्छा कहेंगे। ऐसे ही चित्र आर्य साहित्यमें हैं। किन्तु शेक्सपियरके नाटकोंका ऐसा परिणाम नहीं होता। पहले ही उनके बड़े बड़े प्रबल रिपुओंके चित्र आगे आते हैं। पहले दिग्गज रावणका ही चित्र है। उसकी सुनहली लङ्का और मनोहर राज्यकी ही

ओर मन आकृष्ट होता है। उसकी महत्ता आँखोंके सामने झलक जाती है। क्लियोपेट्राके रूप और सौन्दर्य पर मन मोहित हो जाता है। लेडी मैकबेथको देखकर मनमें प्रबल लोभ जाग उठता है। यागोकी चातुरीसे मन चमत्कृत हो जाता है। जब इस प्रकारके चित्र मनमें पैठ जाते हैं तब उनके इन चित्रोंके प्रतिबिम्ब मात्र चित्रित किये गये संयोगान्त नाटकोंके सामान्य चित्र क्या मनमें स्थान पा सकते हैं? इस दशामें सभी एक समान जान पड़ने लगते हैं। एक ही भूमिमें दोनों प्रकारके ये चित्र हैं। इस भूमिका नाम है रिपु-प्रबल मानव प्रकृति। जो रुचि घोर शत्रुके प्रकाण्ड चित्रमें पहले मुग्ध हो चुकी वह भला उसीके क्षुद्र चित्रकी विरोधी क्यों होने लगी? शेक्सपियरके वियोगान्त नाटकोंका प्रभाव पहले पड़ता है। फिर वियोगान्त-संयोगान्त (Tragi-Comedy) का और अन्तमें संयोगान्तका।

वहाँ भी वही शत्रुकी प्रबलता और इन्द्रिय-लालसाकी प्रधानता देख पड़ती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि उनकी उतनी प्रधानता नहीं है। वहाँ रोमियो जूलियटके समान सांघातिक शत्रुका उच्छ्वास नहीं है। शत्रुका वेग कुछ धीमा पड़ गया है। वहाँ भी यौवनकी उन्मत्तता और अधीरता और इन्द्रिय-लालसाके घोर उन्माद और आवेग दिखाई पड़ते हैं। बेनडिकके मनमें जब प्रेमकी तरङ्ग उठी तब उसकी अधीरताका क्या कहना! बियेट्रिसकी अपेक्षा भी वह अधिक अधीर हो गया। रोसोलिंड यौवन रागसे इतनी उन्मत्त हो गई कि घंटेभर भी अरलैंडके बिना देखे न रह सकी। शेक्सपियरके

संयोगान्त नाटकोंमें प्रेमका चित्र, यौवनकी उन्मत्तता और इन्द्रिय-लालसाकी इतनी कलंकित मूर्ति देख पड़ती है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि यह प्रेम-चित्र है या इन्द्रिय-लालसाका चित्र। उस इन्द्रियलालसा और यौवनमदसे उन्मत्त होकर नायक और नायिका सामाजिक ओर पारिवारिक शासनके सभी नैतिक बन्धनोंको तोड़कर यथेच्छ कार्य करते हैं। डेस्डिमोनाने पिताके शासनकी अवहेलना कर और यौवन-मदसे उन्मत्त होकर खुली अदालतमें जिस निर्लज्जताका परिचय दिया था वह कहने लायक नहीं है। जूलियट और आइमाजिन भी पिताके शासनके विरोधके खासे नमूने हैं। हर्मिया लाइसैन्डरको लेकर वनमें भाग गई थी। इस प्रकार उसने पिताके शासन और राजशासनसे अपनेको मुक्त किया था। *

इसमें सन्देह नहीं कि युवकोंके लिये प्रेम-सम्भाषण बहुत मधुर होता है। शेक्सपियरमें ऐसे स्थल अनेक हैं। किन्तु उनमें यौवनकी उन्मत्तताका ही चित्र है। उस उन्मत्तताका, जो गुरुजनोंके किसी प्रकारके शासनको नहीं मानती—जो सम्पूर्ण नैतिक शासनोंसे एकदम परे है—पापाचित्र सर्वत्र देख पड़ता है। ऐसे ही दुर्दान्त प्रेमके वशीभूत होकर जेसिका अपने निर्धन यहूदी पिताको छोड़कर बेलमन्टमें लारेंसके पास भाग गई थी। ऐसे व्यापार यूरोपमें बहुत होते हैं, इसीसे शेक्सपियरके नाटकोंमें इनकी इतनी अधिकता है। होमरके महाकाव्यमें भी पैरिसके साथ हेलेनके व्यभिचार और पला-

* इनकी स्पष्टताके लिये हिन्दी शेक्सपियर देखो।

यनका चित्र अंकित है। हमारे नवयुवक विद्यार्थियोंके सामने इस प्रकारके चित्र निरन्तर रहा करेंगे तो उनकी कल्पना निश्चय दूषित हो जायगी। यदि यही बात है तो शृङ्गार रससे लबालब भरे हुए अन्यान्य उपन्यास पढ़ानेमें क्या हर्ज है? शेक्सपियरने यूरोपीय समाजके चित्र खींचनेमें ऐसे ही अनेक पापाचित्र चित्रित किये हैं।

यह नहीं कहा जा सकता कि पाश्चात्य जनसमाजमें आदर्श प्रेमके नाटक नहीं हैं। किन्तु ऐसे बहुत ही कम नाटक हैं जिनमें प्रेमके सुन्दर चित्र चित्रित किये गये हों। शेक्सपियर आदिके काव्य, नाटक, उपन्यास सभी इस दोषसे कलंकित हैं। क्या ऐसे ही चित्र अंकित करनेसे मानव प्रकृति उज्ज्वल हो सकती है?

पाश्चात्य जनसमाजमें मानव प्रकृतिकी जैसी रीति-नीति प्रचलित है उसीका यथार्थ चित्र शेक्सपियरने खींचा है। केवल शेक्सपियरने ही नहीं, अन्यान्य कवियों और औपन्यासिकोंने भी एक ही प्रकारका चित्र खींचा है। शेक्सपियरके सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण उनके नाटक यूरोपके आदर्श हुए हैं। रूप-गुणके मोहसे जो अनुराग उत्पन्न होता है वह यौवनमें कितना दुर्दमनीय होता है, इसीका चित्र हम पाश्चात्य साहित्यमें देखते हैं। शकुन्तला और दुष्यन्तका अनुराग रूपज कहा जा सकता है। पर जब दुष्यन्तने शकुन्तलाका प्रत्याख्यान किया था तब आत्मसंयमका उत्कृष्ट परिचय देकर पाशव प्रवृत्तिको दबा दिया था। शकुन्तलाके रूपज अनुरागपर सलज्जताका एक ऐसा आवरण डाला गया है कि उसमें

एक मधुर भावका मिश्रण हो गया है। ऐसा माधुर्य्य हम पाश्चात्य प्रेममें नहीं देखते। उसमें केवल माधुर्य्यका मिश्रण ही नहीं है; उस चित्रसे पापकी मलिनता दूर हो गई है। क्योंकि रूपज अनुराग उसी स्थलपर पापसे कलङ्कित होता है जहाँ वह विधि-विपरीत होकर शत्रु-भावमें परिणत होता है। शकुन्तलाका अनुराग प्रबल आसक्तिमें परिणत होनेके पहले ही दुष्यन्तने उससे विवाह कर उस अनुरागको विधि-अनुकूल कर दिया था। गान्धर्व विवाह राजाओंके लिये दूषित नहीं है। इससे दुष्यन्तके विवाहमें वैसा पाप-भाव नहीं है।

कालिदासके इस प्रेमाचित्रकी आलोचना करके उसके साथ पाश्चात्य साहित्यके प्रेमचित्रकी विभिन्नता दिखलाई जाती है।

शकुन्तला नाटक प्रारम्भ करनेके साथ ही आँखोंके सामने एक अपूर्व प्रेमाचित्रका उदय होता है। शकुन्तला कैसे प्रेम-परिपूर्ण होकर आश्रमके वृक्षोंकी सेवामें लगी हुई है, कैसे प्रेमके साथ वृक्षोंके थालोंमें जल ढाल रही है, और सखियाँ कैसे प्रेमके साथ निःसंकोच होकर संलाप कर रही हैं! उनके मनमें पहले ही पूर्वानुरागका संचार हुआ था। वे माधवी लताके साथ सहकार-आमका विवाह करके क्रीड़ा कौतुक कर रही थीं। उसी समय दुष्यन्तका प्रादुर्भाव हुआ। दुष्यन्तके समक्ष शकुन्तलाके सलज्ज भाव और मौनावलम्बनका कालि-दासने प्रकृति-संगत चित्र खींचा है। वहाँ यूरोपीय युवतियोंके समान धृष्टता और वाचालता नहीं है। शकुन्तलाकी सलज्जता और नीरवताने दुष्यन्तको जिस पूर्वानुरागका परिचय दिया

था वह धृष्टता और प्रगल्भतासे सम्भव नहीं। ऐसी भावव्यंजक नीरवताका दिखलाई पड़ना असम्भव है। ऐसा ही करना आर्य युवतियोंका प्रकृत धर्म है। क्रेसिडाके जाल, प्रेम प्रकाशक वाक्य और क्रियाकलाप अथवा जूलियट, आइमजिन, हेलेना या हार्मियाके साथ उनकी तुलना नहीं हो सकती। किन्तु इन प्रेमिका युवतियोंने अनेक प्रगल्भ वचनोंसे अपने हृदयकी वेदना जैसे प्रकाशित की थी वैसे यदि यहाँकी युवतियाँ करें तो उनकी सी निर्लज्ज और कोई दूसरी स्त्री नहीं कही जा सकती। ऐसी धृष्टता कुलाङ्गनाओंके लिये सम्भव नहीं। यूरोपमें सब कुछ हो सकता है; क्योंकि वहाँ प्रेमकी खरीद-बिक्री होती है। प्रेमक्षेत्रमें शिकार (Courtship) करनेकी रीति यूरोपमें प्रचलित है। वहाँ दूसरेको बहकाकर अपने लिये राजी करना पड़ता है। वहाँ पति-लाभकी बात नहीं कही जा सकती, बल्कि पतिपत्नीका शिकार कहा जा सकता है। सुन्दरी पत्नी प्राप्त करनेके लिये लैंडरके समान रोसोलिण्डको बहकाकर उसका शिकार करना पड़ता है। कहना होगा कि हृदयमें वैसा प्रेमभाव हो या नहीं, पर मुखसे और बाहरी व्यापारसे उससे कई गुने अधिक प्रेम-भावका परिचय देना पड़ता है। इससे बहुतसे स्थानोंमें प्रेमकी विड़म्बना करनी पड़ती है। प्यारी, प्राणप्रिय, तेरे बिना कहीं चैन नहीं, क्षण भर भी यदि तुझे नहीं देखता तो बड़ा ही दुःख होता है, ऐसे अनेक वाक्योंसे प्रेम प्रकट करना होता है। अतृप्त यौवनका नशा जबतक बना रहता है तबतक मधुर वचनोंमें प्रेमकी धारा बहा करती है। उन सुधामय वचनोंमें कितना मौखिक, कितना हार्दिक और

कितना यौवन-सुलभ प्रेम है, इसका पता पाना साधारण काम नहीं है। प्रायः देखा गया है कि एक सुन्दरीका नशा दूसरी सुन्दरीके देखनेसे ही उतर जाता है। यदि यह कहो कि स्वाधीन भावसे पसन्द करके और पात्रापात्रका निर्णय करके ही विवाह किया जाता है तो हम कहते हैं कि ऐसे पूर्ण और अतृप्त यौवन-कालमें निर्वाचनका काम ठीक तरहसे हो ही नहीं सकता। यौवन कालमें निर्वाचन हो ही नहीं सकता। उस समय केवल शत्रुकी प्रबलता और आँखोंका नशा रहता है। जिसको निर्वाचन कहते हैं वह या तो नशा है और या शत्रुका प्रतिवाक्य मात्र। स्वयं शेक्सापियरने भी इस बातको माना है। Friar ने रोमियोका उल्लेख करके कहा था कि।

Young men's love then lies not truly in their heart,but in their eyes.*

हर्मियाके विवाहके लिये उसके पिताने डेमिट्रियसको ठीक किया था, किन्तु हार्मिया लाइसेण्डरको चाहती थी। हर्मियाने कहा था कि पिता यदि मेरी आँखोंसे देखते तो अवश्य लाइसेण्डरको ही निर्वाचित करते।

Hermia—I would my father look'd but with my eyes. †

इस बातके उत्तरमें राजा कहते हैं कि–तेरी दृष्टि कहाँ है? तू तो अन्धी है। तुझे चाहिए कि तू पिताकी ही आँखोंसे देखे।

* नवयुवकोंका प्रेम वस्तुतः हार्दिक नहीं होता बल्कि उनकी प्रीति मुँहदेखी होती है।

† पिताको चाहिए था कि वे मेरी ही आँखोंसे देखते।

Theseus—Rather your eyes must with his judgement look. *

इसीसे देखा जाता है कि जहाँ निर्वाचनकी शक्ति नहीं, जहाँपर शत्रुकी अन्धता ही प्रबल है, वहाँ पिता-माताके निर्वाचनसे ही सहमत होना उचित है। इसीसे आर्य जातिमें, सदाके लिये, जिस विवाहमें वर कन्याका सम्बन्ध एक हो जाता है उसमें, उनके निर्वाचनका अधिकार पिता-माता वा सुविज्ञ अभिभावकके हाथमें ही समर्पित रहता है। अपने विवाहके लिये जब आदमी लालायित नहीं होता तब दूकानदारी करके प्रेम-शिकार करनेकी आवश्यकता ही क्या? इसी लिये हिन्दू समाजमें स्त्री जातिकी लज्जाशीलता एक स्वाभाविक गुण हो जाती है। वह लज्जाशीलता शकुन्तलामें बड़ी ही मधुर प्रतीत होती है।

शकुन्तला और मिरेन्डा

जैसे शकुन्तला संसारसे दूर रहकर वनमें ऋषिके निर्जन आश्रममें पली थी और आश्रमवासियोंके अतिरिक्त किसी दूसरेको नहीं जानती थी, वैसे ही शेक्सपियरकी मिरैंडा भी एक निर्जन देशमें अकेली पिताके यहाँ पाली पोसी गई थी। शकुन्तलाके यौवनमें जिस समय प्रेमोद्रेक हुआ था उसी समय उसका दुष्यन्तके साथ साक्षात्कार हुआ था। उस समय उसका जो नीरव सलज्ज व्यवहार हुआ था उसकी व्याख्या हम पहले ही कर चुके हैं। किन्तु शेक्सपियरने ऐसे स्थानमें,

* तुझे उचित है कि पिताकी आँखोंसे ही देखे।

देखिये, कैसा व्यवहार दिखलाया है । मिरैण्डाने पिताके अतिरिक्त दूसरेका मुखतक नहीं देखा था। किन्तु जब फर्डिनैण्डके साथ उसकी भेंट हुई तब वह इस तरह उससे बातें करने लगी जैसे बड़ी बूढ़ी स्त्री बातें करती है। शकुन्तलासे साक्षात्कार होने पर दुष्यन्तने ही गान्धर्व विवाहका प्रस्ताव उपस्थित किया था। किन्तु यहाँ मिरैण्डाका कैसा व्यवहार होता है, सो देखिये—

मिरैण्डा—क्या तुम मुझसे प्रेम करते हो ?

फर्डिनैण्ड—हम देवता, देवी, पृथिवी, सबके सामने कहते हैं, शपथ करके सत्य कहते हैं कि हम केवल तुमसे प्रेम ही नहीं करते बल्कि तुमको एक कुलीन कन्या समझकर तुम्हारा सम्मान करते हैं। तुम्हारा जितना गौरव है, हम उसे खूब समझते हैं ।

मि०—फिर जिससे मैं हँसती हूँ उसीसे रोती क्यों हूँ ?

फ०—तुम क्यों रोती हो ?

मि०—मैं अपनी हीनता और दीनता समझकर रोती हूँ। मैं तुम्हें जो दूँगी उसे तुम स्वीकार करोगे, इसकी मुझे आशा नहीं है। और जिसके न पानेसे मैं मरी सी जाती हूँ वह अपना आप तुम मुझे दोगे,इसकी भी आशा नहीं रखती। इसीसे रोती हूँ। किन्तु इन बेकार बातोंको जाने दो । मैं जिसे छिपाना चाहती हूँ वह बाहर निकला पड़ता है। मैं लज्जा और चातुरीको धो बहाकर साफ साफ कहती हूँ कि यदि तुम मुझसे विवाह करोगे तो तुम्हारी पत्नी होकर रहूँगी। यदि नहीं करोगे तो तुम्हारी लौंडी होकर रहूँगी ।

फ०—तुम मेरे प्राणोंसे भी प्यारी हो। क्या मैं तुम्हारे योग्य हूँ ?

मि०—तब तो तुम मेरे प्राणनाथ स्वामी हो।

ऐसी चातुरी भरी मोहिनी बातें मिरैण्डाने कहाँसे सीखीं? उसने क्या यह नहीं कहा था कि मैंने अबतक मनुष्यका मुँह नहीं देखा है ? क्या वह तीन वर्षकी उम्रमें ही निर्जन द्वीपमें नहीं लाई गई थी ? वहाँ उसने बारह वर्षतक पिताको छोड़कर और किसीका मुख नहीं देखा था। फिर उस बनवासिनी युवतीमें ऐसी वाग्रचनाचातुरी कहाँसे आई ? शकुन्तलाके आश्रममें तो एक प्रकार जनसमाजका होना भी कहा जा सकता है। वहाँ ऋषिके चेले थे, गौतमी थी, अनुसूया और प्रियम्वदा दो सखियाँ भी थीं। फिर ऋषियोंके आश्रममें पहले कौन नहीं जाता था ? इतना होने पर भी शकुन्तलाके मुखसे ऐसी कौशल भरी बातें नहीं निकली थीं। उस शकुन्तलको इतना भी साहस नहीं हो सका था कि वह स्वयं पहले विवाहका प्रसङ्ग छेड़ती। दुष्यन्तने ही पहले विवाहका प्रसङ्ग उठाया। प्रसङ्ग उठनेपर भी शकुन्तलाने इतने कौशलसे आत्म-प्रकाश नहीं किया था। शकुन्तला बराबर लज्जासे सिर झुकाकर खड़ी रही। मानव प्रकृति सर्वत्र ही समान होती है। मिरैण्डा पाश्चात्य जन-समाजमें तो शिक्षित हुई नहीं थी कि उस समाजके रंग ढंगकी एकदम नकल करती; या उस समाजमें रहनेवाली तरुणी कुमारीके समान बोलने चालनेमें होशियार हो जाती। मालूम होता है, जैसे स्वभावतः शेक्सपियरने जूलियट, रोसेलिण्ड, बिएट्रिस, आइमजिन, डेस्डिमोना, हर्मिया आदि

चतुर युवतियोंमें जो भाव दिखलाया था वही मिरैण्डामें भी दिखलानेमें वे सङ्कुचित नहीं हुए । शकुन्तलाकी व्यवहारोचित सरलता, लज्जाशीलता तथा स्वाभाविक और यौवनसुलभ प्रेमपरिचयका चित्र शेक्सपियरके पाश्चात्य समाजमें ढूँढनेसे कहीं मिल सकता है ? उसकी कल्पना करना भी सहज नहीं है। मानव प्रकृतिका यह सौन्दर्य केवल आर्य साहित्यमें ही दिखलाई पड़ता है ।

मिरैण्डाकी सरलतामें साहस मिला हुआ है । लज्जा किसे कहते हैं, लज्जाका व्यवहार कैसा होता है, यह मिरैण्डाने कभी नहीं देखा। जब उसके जीमें जो आता तब वही कह डालती। मनके वेगको वह छिपा नहीं सकती थी । उसकी इसी सरलतामें मनका भाव दर्पणके समान प्रकाशित हो जाता है। यदि ऐसी बात हो तो फर्डिनेण्डके साथ मिरैण्डाका ऐसा संलाप अवश्य सरल और स्वाभाविक कहा जा सकता है । हृदयके आवेगसे जो निकलता है वह अवश्य अकृत्रिम और सरल भाषामें होता है, इसमें कुछ कहना ही नहीं है । यदि मिरैण्डाका वार्तालाप स्वाभाविक माना जाय तो यह विचार करना होगा कि यह कहाँ तक सम्भव हो सकता है । मिरैण्डाके मुखसे प्रेमकी ऐसी बातें, अपने विवाहके लिये इतनी अधीरता और मनके आवेगको इस प्रकार प्रकट करना, जन-समाजसे बहुत दूर रहनेवाली एक सरला युवतीके चरित्रमें कैसे सङ्गत हो सकता है, यह हम नहीं समझते । उसने कहा था—

"Hence bashful cunning"

इस प्रकारकी 'सलज्ज चातुरी' उसे कैसे ज्ञात हुई ? सलज्ज चातुरी अलगकर उसने फिर कहा था—

"And prompt me plain and holy innocence"*

उसने चातुरी और सरलताका भेद कहाँसे सीखा ? उस सरलताकी पवित्रता उसने कैसे जानी ? देखिये, वह फर्डिनेण्डसे क्या कहती है—

"I am your wife, if you will marry me. If not, I'll die your maid: to be your fellow. you may deny me; I'll be your servant, whether you will or no."†

स्वाभाविक हृदयावेगका प्रकाश करनेमें मिरैण्डाकी इतनी चतुरता उसकी सी निर्जनमें रहनेवाली सरला ललनाको शोभा नहीं देती। ऐसा सम्भव भी प्रतीत नहीं होता। इस संलापमें उसका यौवनसुलभ हृदयावेग और इन्द्रिय-लालसा स्पष्टतः प्रकट होती है। मिरैण्डा विवाहके लिये उतनी ही अधीर है जितना कि फर्डिनेण्ड। शूर्पणखाकी अधीरता और आग्रहसे मिरैण्डामें क्या फर्क पड़ता है ? शेक्सपियरमें यौवनकी उन्मत्तता और अधीरताके ऐसे ही चित्र हैं। मिरैण्डा इन्द्रिय-लालसाकी प्रबलता और अधीरताका खासा नमूना है।

* आपही मुझे स्पष्ट और पवित्र साधुताका उपदेश दीजिये।

† यदि आप मुझसे व्याह कर लेंगे तो मैं आपकी स्त्री होकर रहूँगी। यदि नहीं तो आजीवन कुमारी हो रह जाऊगी। मैं आपकी सहधर्मिणी होऊँगी। यदि आप इसे अस्वीकार करेंगे तो दासी बनूँगी। इसे आप मानें चाहे न मानें। —अनु०

कविकी आदर्श सृष्टि

शेक्सपियरने जैसे मनुष्यके काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, द्वेष प्रभृति आसुरिक और पाशव प्रवृत्तियोंकी प्रबलताका असामान्य चित्र खींचा है वैसे ही आर्य कवियोंने प्रेम, दया, दाक्षिण्य, क्षमा प्रभृति धर्म प्रवृत्तियोंका उत्कर्ष दिखलाया है। संसार-क्षेत्रमें ऐसे उदाहरण विरले ही मिलते हैं। जैसे लेडी मैकबेथ दुर्लभ हैं वैसे ही सीता सावित्री भी दुर्लभ हैं। किन्तु कविकी सृष्टि दुर्लभ नहीं है। कवि कल्पनाके राज्यमें आदर्शकी सृष्टि करके मनुष्यकी उत्कृष्टता दिखा सकते हैं। मनुष्योंकी कल्पनाके आगे उस आदर्शको रखनेके लिये ही काव्यकी सृष्टि होती है। अगर ऐसा न हो तो संसारमें हम जो दिन-रात देखा करते हैं उसके लिये काव्य-सृष्टिकी आवश्यकता ही क्या है? क्योंकि वह तो मनुष्योंकी आँखोंके सामने नाचनेवाली बात है। कवि, जो देख पड़ता है उससे कहीं उच्च आदर्शकी सृष्टि करता है। वह आदर्श मनुष्यके हृदयमें वर्तमान रहकर उसको शुद्ध बनाये रखता है और प्रवृत्तियोंको सत्पथकी ओर परिचालित करता है। ऐसे आदर्शोंकी सृष्टिके उदाहरण हमारे आर्य साहित्यमें सीता-सावित्री आदि हैं।

शेक्सपियरने जूलियटमें दिखलाया है कि इस संसारमें जबतक सामाजिक, पारिवारिक और वैवाहिक बन्धन नहीं तोड़ा जा सकता तबतक अपने शत्रुओंको चरितार्थ करना कठिन है। आर्य कवि यह दिखलाते हैं कि संसारके समस्त बन्धन और शासनके अधीन होकर प्रेमका जो भाव झलकता

है उसीमें प्रेमका नैतिक सौन्दर्य देख पड़ता है। काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु साधारण हैं। उन शत्रुओंको प्रबल न होने देना ही यथार्थ मनुष्यत्व है। हिन्दू समाज और साहित्यमें ऐसे ही मनुष्यत्वका प्रकाश फैला हुआ है।

साहित्यमें प्रेम

मनुष्यत्व

मनुष्यत्व क्या है ?

हम पहले दिखा चुके हैं कि आर्य साहित्यके प्रेमादर्शमें देव-त्वकी कैसी सृष्टि है और पाश्चात्य साहित्यके प्रेममें कैसा पशु-भाव है। जैसे मानव प्रकृति पाशव प्रकृतिका आधार है वैसे ही देव-प्रवृत्तिकी भी लीलाभूमि है। मनुष्यमें जितना ही देव-भाव आवेगा उतना ही पाशव भावका अन्तर्धान होगा। धर्मव्याधने कहा था कि जैसे सूर्यका उदय होनेसे अन्धकारका नाश हो जाता है वैसे ही पुण्य कर्मका उदय होनेसे पाप नष्ट हो जाता है। यूरोपीय साहित्य पाशव प्रवृत्तिको दमन करनेकी जितनी शिक्षा देता है उतना देवप्रकृतिको उत्तेजित करनेमें समर्थ नहीं होता। आर्य साहित्यमें पाशव प्रवृत्तिको दमन करनेके लिये दो उपाय हैं—(१) पापके भीषण परिणामको देखकर उसे छोड़ दो और पुण्यकी स्फूर्ति करके पाप पंथसे अलग हो जाओ। आर्य साहित्य इस बातको प्रत्यक्ष कर दिखाता है कि जितना अधिक पुण्य होगा उतना ही पाप आपही आप अलग होगा। पुण्य और देवत्वका उच्च आदर्श खड़ा करके पापको दूर करनेके लिये आर्य कवियोंने रचनामें बड़ी निपुणता दिखलाई है। इस उच्चादर्शमें अपने हृदयको संलग्न करना ही मनुष्यत्व है।

मनुष्योंमें पाशव प्रवृत्तियाँ इतनी प्रबल हैं कि मनुष्य स्वभावतः उनकी ओर झुक जाता है। दूसरी ओर देवभाव अपनी ओर खींचता है। उनके पशुतुल्य कार्य दुःखके और देवतुल्य कार्य सुखके घर हैं। दैवी कार्य करनेका सुख जैसा स्थायी होता है उसकी तुलनामें पाशव प्रवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाला सुख कुछ है ही नहीं। पाशव प्रवृत्तिसे सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं; किन्तु देवप्रवृत्तिसे मनमें शान्ति आती है। इसी शान्तिके लिये लालायित होकर मनुष्य पाशव प्रवृत्तिको त्याग देता है। चिन्ता और विचार-शक्तिसे मनुष्यकी बुद्धि विमल हो जाती है और वह सदुपायको ढूँढ लेता है। इसी सदुपायका निर्णय करने और उसे अपनानेमें मनुष्यत्व देखा जाता है। मनुष्य यहीं पशुसे श्रेष्ठ हो जाता है। देवताओंको यह सदुपाय आपही आप प्राप्त रहता है, इसीसे देवताकी अपेक्षा मनुष्य निकृष्ट रहता है। जिनके लिये इस उपायका अवलम्बन जितना ही सहज होगा उनमें देवभावका उतना ही विकाश होगा और वे देवता समझे जायँगे। हिन्दू समाजमें ऐसी रीतियाँ चलाई गई हैं जिनसे लोग इस सदुपायका अवलम्बन करें। हिन्दू समाज-की रीति-नीति इसी लिये मनुष्यत्व-प्राप्तिकी सहायक है। उन्हीं रीति-नीतियोंसे पशुत्वका परित्याग और देवत्वका लाभ होता है। उसके लिये जिस संयमकी आवश्यकता है वही संयम हिन्दू समाजका प्रधान बल है। जिस परिमाणमें यह बल होगा उसी परिमाणमें देवत्वकी प्रतिष्ठा होगी। क्योंकि देवत्व-लाभके निमित्त उक्त रीति-नीति दृढ़ बन्धन है। इस बन्धनका त्याग करना क्या है मानों देवभावसे अलग होना है। इन बन्धनोंमें

पढ़कर जो संयमी हो सकते हैं वे निश्चय देवभावके अधिकारी होनेमें समर्थ हैं। इस बन्धनके वशीभूत होकर कार्य करनेमें जिस संयमका प्रयोजन है उस संयमका साधना ही मनुष्यत्व है। आर्य साहित्यमें इसी मनुष्यत्वका विकाश है।

सतीत्व-गौरवका धर्म-बल

पहले सतीत्व गौरवसे परिपूर्ण होकर आर्य ललनाएँ कैसे वीरत्व और संयमका परिचय दे चुकी हैं, हमारे साहित्यमें यह बहुत अच्छी तरह देख पड़ता है। उसी गौरवसे पूर्ण होकर अपनी पवित्रताकी रक्षाके लिये प्राण देनेमें भी वे पीछे न हटीं। कितनी राजपूत स्त्रियाँ मुसलमानोंके भयसे आगमें जलकर खाक हो गई हैं। स्वामीसे वियुक्त होकर सती ललनाएँ पल भर भी नहीं जी सकतीं। जिसका गौरव इतना बढ़ा चढ़ा है वह वीराङ्गना पतिके साथ ही जल जानेमें भी नहीं सकुचाती—वह मृत पतिकी चिता पर सुखसे चढ़ जाती है। जिस आन्तरिक बलसे ये सब कार्य होते हैं क्या वह सामान्य बल है? उसी बलसे बलवती होकर हिन्दू सती संसारमें अपने अपूर्व संयमका परिचय देती है। वह स्वामीके लिये सारे दुःखोंको झेलती है और अपना सर्वस्व छोड़नेमें समर्थ होती है। इस समय सतीत्व-गौरवका जितना ही लोप होता जाता है उतना ही वह बल भी अदृश्य होता जाता है। क्या आज उसके प्रवर्तनके बदले वैसी ही कोई प्रबल उत्तेजना हम स्त्रियोंको दे सकते हैं? यदि नहीं तो पहलेका सतीत्व-गौरव उनके मनसे दूर क्यों होने देते हैं? सतीत्व-गौरवके

जोड़का कोई गौरव नहीं, यह निश्चय है। आर्य साहित्यमें वर्णित इस सतीत्व-गौरवको संजीवित रखना ही हमें उचित है। यदि वह उत्तेजना फिर भी स्त्री-जातिमें आवे तो उससे जो बल होगा वह पर्वतकासा दुर्गम होगा। उस अलङ्घ्य बलसे बलवान् हमारा स्त्री-समाज यदि फिर भी पूर्ववत् हो जाय तो उसे किसी अन्य धर्म या नैतिक बलकी आवश्यकता नहीं रहेगी। इसी लिये हमारे समाजमें पूर्वके सतीत्व-गौरव-की जिस उपायसे रक्षा हो उस उपायको अपनाना और जिससे उस गौरवका ह्रास हो उसे छोड़ना हमारा आवश्यक कर्तव्य है।

स्त्रीका संयम-बल

इसी सतीत्व-गौरवकी रक्षाके लिये रामकी माता कौशल्याने आत्मसंयमका अपूर्व परिचय दिया है। स्वामी दशरथ कैकेयी-के एकदम वशीभूत हो गये थे, इस कारण उसे अपार कष्ट तो था ही; उसपर कैकेयी दिन रात उसे व्यंग वचनोंके बाणोंसे बेधा करती थी। यहाँ तक कि कैकेयीकी दासी भी जली कटी बातें सुना दिया करती थी। इतने पर भी कौशल्या दशरथसे प्रेम करती थी। वह समझती थी कि जब बेटा राज-गद्दी पर बैठेगा तब हमारे सारे दुःख दूर हो जायँगे। रामचन्द्रके अभिषेकका समय आया। कौशल्याका हृदय आनन्दसे भर गया। किन्तु कुछ ही कालके बाद राम मातासे वनवासके लिये बिदा होने आये। उस समय वह हृदय टुकड़े टुकड़े हो गया। उसे चारों ओर अन्धकार देख पड़ने लगा। अब

कौशल्याके हृदयमें प्रबल वात्सल्य प्रेम उमड़ पड़ा। अब वह अयोध्यामें कैसे ठहर सकती है ? कौशल्याका सुख अब अयोध्यामें रहनेमें नहीं है बल्कि रामके साथ बनमें रहनेमें ही है। कौशल्या मनके दारुण वेगसे रामके साथ बन जानेके लिये उद्यत हुई। लाख उपाय करने पर भी वह अयोध्यामें रहनेके लिये राजी नहीं हुई। अन्तमें रामचन्द्रने ज्यों ही सती-धर्मकी ओर लक्ष्यकर यह कहा कि जबतक पूज्य पिताजी जीते हैं तबतक तो उनको छोड़ना उचित नहीं, त्यों ही कौशल्या चकित हो गई। उसने मनके दारुण आवेगको प्रबल कर्तव्यके बलसे दबा डाला। एक ओर पुत्र-प्रेम और दूसरी ओर पति-प्रेम, इनके बीचमें सती कौशल्याका कर्तव्य पड़ गया। कर्तव्यने मनमें आत्मसंयम भर दिया। अब कौशल्या दशरथको छोड़कर रामके साथ वन जानेमें समर्थ न हो सकी। प्रेमकी एक तरङ्गने दूसरी तरङ्गको रोक दिया। पुत्र-प्रेमपर पतिप्रेम विजयी हुआ। सती फिर दशरथकी सेवा करनेमें प्रवृत्त हुई।

रामका वनवास पिताकी आज्ञासे हुआ था। पर लक्ष्मण क्यों वनमें गये ? उनके जानेपर भी सुमित्रा अधीर न हुई। सुमित्राका धैर्य कौशल्यासे भी बढ़ा चढ़ा है। सुमित्राके विषादका कभी किसीने पता पाया ? सुमित्राका आत्मसंयम भीतर ही भीतर अपना प्रबल प्रभाव दिखा रहा था। किन्तु सतीने उसे दबाकर प्रसन्न मन और अकातर भावसे लक्ष्मणको विदा कर दिया और आप घरमें ही रही।

आत्मशासन देखना हो तो शेक्सपियरकी इसाबेलामें

देखिये। इसाबेलाने अपने सारे सांसारिक प्रेमको भगवानके समीप अर्पित कर दिया था। उसका मनुष्यप्रेम देवप्रेममें परिणत हो गया था। आर्य विधवाका समस्त सांसारिक अनुराग जैसे देवताको ही निवेदित होता है वैसे ही इसाबेलाकी सारी अनुरक्ति ईश्वरको ही समर्पित हुई थी। इसाबेला ऐसे ही देवप्रेमसे परिपूर्ण होकर धर्ममठमें पैठी थी। उस समय उस नवीन तपस्विनीका धर्मानुराग दर्शनीय ही था। देवभक्ति-का ऐसा चित्र शेक्सपियरने केवल कैथोलिक धर्ममें ही देखा था। आधुनिक समालोचकोंने ऐसे मठोंकी बौद्ध मठोंसे तुलना की है। जो कुछ हो, नवीन तपस्विनी इसाबेला अपने भाईकी प्राणरक्षाके लिये आधी रातको अकेली एंजिलाके पास पहुँची थी। एंजिलाने उस समय अपना पापाभिलाष प्रकट किया; पर यह इसाबेलाको असह्य हुआ। उसने धर्मकोपसे प्रज्वलित होकर कहा—

"मेरे भाईकी जान भले ही चली जाय, किन्तु उसको बचानेके लिये धर्मको धो बहाकर बहन कभी कलंकिनी नहीं होगी"।

फिर जब उस भाईने ही अपनी बहनसे पापमें प्रवृत्त होनेका अनुरोध किया तब इसाबेलाने गरजकर कहा—

"रे दुराचारी पापी! अपनी बहनको कलंकिनी बनाकर तू जीना चाहता है? तुझे धिक्कार है!"

इन दोनों स्थानोंमें इसाबेलाने अपने धर्म और पवित्रता-को बचाकर आत्मसंयमका सुन्दर परिचय दिया था। इसा-बेलाका हृदय जब धर्मानुरागसे पूर्ण और पूत हो गया था, जब वह नये अनुरागसे मठमें प्रवेश करनेको उद्यत हो गई

थी तब यदि उसने एंजिलाका तिरस्कार कर दिया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? उस समय उसके सुन्दर मनोवेगके सामने क्या पापी एंजिला ठहर सकता है ? यदि ऐसे ही चित्र शेक्सपियरमें होते तो उनका सम्मान बहुत अधिक बढ़ जाता।

कीचकके प्रलोभनके समय द्रौपदीने भी ऐसा ही आत्म-संयम किया था। मेरी राय तो यह है कि द्रौपदीके एक धार्मिक चित्रकी समानतामें यह दृश्य उपस्थित किया जा सकता है।

पुरुषका संयम

भरतका आत्मशासन देखिये। भरतके लिये अयोध्याका सिंहासन प्रस्तुत है। माताने सारे कण्टकोंको दूरकर सिंहासनको निष्कण्टक कर दिया था। किन्तु भरतने क्या उस सिंहासनको ग्रहण किया ? उन्होंने अपनी माताके सारे कामोंकी कड़ी आलोचना कर डाली। राम लक्ष्मणको वनवास देकर वह सिंहासन मोल लिया गया था; पूज्य पिताका प्राण-वियोग हुआ था; परिवारमें कुहराम मच गया था; अयोध्या-वासी हाहाकार कर रहे थे; और साम्राज्यभरमें शोक छा गया था। क्या उस समय भरत सिंहासनपर बैठ सकते थे ? उस समय नहीं तो पीछे ही क्या वे बैठ सकते थे ? नहीं। उनकी भ्रातृभक्ति उस समय जाग्रत हुई। उसी भ्रातृभक्तिके वशीभूत होकर उन्होंने माताकी निन्दा की और सिंहासनका लोभ छोड़ा। जब राम उनके लौटाने—अनुनय विनय करने-पर भी घर नहीं लौटे तब उन्होंने उस सिंहासनपर रामकी चरणपादुका रक्खी और अनासक्त हो राजकाज सँभाला। वे

एक ओर रामकी पादुकाकी पूजा करते और दूसरी ओर उसी पादुकाके किंकर बनकर राज-काज चलाते। इस आत्म-संयमसे भरतने जो कुछ किया उससे वे राजसिंहासन क्या, देव-सिंहासनपर बैठनेके योग्य हुए। यदि भरत अयोध्याके राजा ही होते तो क्या होता? किन्तु भरत एक अयोध्याका सिंहासन छोड़कर सदाके लिये सभीके हृदय-सिंहासनपर विराजमान हुए। उनकी भ्रातृभक्तिने उन्हें देवता बना डाला। अब कचका आत्मशासन देखिये। कच शुक्राचार्यके यहाँ संजीवनी विद्या सीखनेके लिये गये। देवयानी उन्हें प्यार करने लगीं। दिनभर वे एक साथ रहते। कचके रूप और गुणपर देवयानी मुग्ध हुई। देवयानीकी कृपासे वे चार बार जी-कर उठे। किन्तु इतना होनेपर भी कच देवयानीकी पाप-स्पृहासे अलग रहे। देवयानीके मनोभिलाषको कच पूर्ण रूपसे जानते थे। इसीसे वे देवयानीको गुरुपुत्री और भगिनी समझते थे और बोलचालमें भी वही भाव रखते थे। अन्तमें कच अपनी इष्ट-सिद्धि करके घर जानेको उद्यत हुए। देवयानीने उन्हें घेरा। अन्तमें देवयानीने कचसे अपना मनोभिलाष प्रकट किया। कचने उसका प्रत्याख्यान कर दिया। उन्होंने उस समय आत्मसंयमका पूर्ण परिचय दिया। देवयानीने भी आत्मसंयम कर अपने अभिलाषको दबाया। चन्द्रमा और तारा, शेक्सपियरके आइमजिन, हेलेना, डेसडिमोना, जूलियट इत्यादिके प्रेममें जिस आत्मशासनका अभाव है, उसी आत्म-शासनके रहनेसे कच और देवयानीका प्रेमचित्र देव-सौन्दर्यसे परिपूर्ण हो गया है, इन्द्रिय-लालसाका प्रेमान्धकार अन्तर्धान हो

गया है । शेक्सपियर और उनके अनुयायी सैंकड़ों उपन्यास-लेखकोंकी रचनाओंमें प्रेमका ऐसा देवोपम चित्र कहीं देख पड़ता है ? देवत्वके द्वारा पशुत्वका अनुशासन कभी सम्भव है ? उस अनुशासनके लिये आत्मशासन और मनुष्यत्व चाहिए ।

भक्ति-संयत प्रेम

आर्य साहित्यके सभी प्रेमचित्र आत्मसंयमके प्रभावसे गौरवान्वित हैं । प्रेम कैसे भक्ति और आत्मशासनसे संयत होता है, यदि यह देखना चाहते हैं तो केवल कौशल्याको ही नहीं, वाल्मीकिकी सीता और सुमित्रा देवीको देखिये । देखिये व्यासकी कुन्ती, द्रौपदी और गान्धारीको । अरुन्धती, सावित्री और दमयन्तीको देखिये । देवयानी, शर्मिष्ठा और शकुन्तला-को देखिये । राधिका, रमा और उमाको देखिये । सुभद्रा रुक्मिणी और सत्यभामाको देखिये । फिर देखिये राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नको । आत्मशासन देखना हो तो राजसभामें शकुन्तलाके सामने दुष्यन्तके चरित्रमें देखिये । और यदि सर्वो-परि आत्मशासनका विशाल चित्र देखना चाहें तो महाभारतका वह अंश देखिये जहाँ राजसभामें पाँचों पाण्डवोंके सामने द्रौपदीकी दुर्दशा हो रही है । पाँचों पाण्डवोंकी ओर एक नजर दौड़ाइये । भीम आवेशमें आकर होंठ चबा रहे हैं । बारंबार उनकी दृष्टि युधिष्ठिरकी ओर जाती है । वे देखते हैं कि युधिष्ठिर जरा भी संकेत करें तो पृथ्वीको रसातल पहुँचा दूँ । अद्वितीय वीर अर्जुन आँखें लाल किये युधिष्ठिरको देखते हैं—देखते हैं कि कब ये सिर उठाकर कुछ करनेको मुझे इशारा देते हैं—

और सोचते हैं कि कुछ भी संकेत मिला तो कौरव-सभाको नष्ट भ्रष्ट कर दूँगा। यदि आत्मशासन देखना चाहें, यदि धैर्य देखना चाहें, यदि भ्रातृभक्तिका बल देखना चाहें तो एक बार इस ओर देखिये। सामने गुणवती पतिव्रता द्रौपदीकी घोर दुर्दशा देखिये और इधर पाण्डवोंके बलविक्रमका खयाल कीजिये। उष्ण रक्तकी धारा बड़े वेगसे रग रगमें बह रही है। शत्रु घमण्डके मारे हँस रहे हैं; द्रौपदी क्रोध और अपमानसे अर्जुन और भीमकी ओर देखती है; तथापि भ्रातृभक्ति, धैर्य और आत्मशासनकी सीमाका उलङ्घन नहीं कर सकती। द्रौपदीने भगवानकी शरण ली भगवानने द्रौपदीकी लाज रखी। आत्म-शासनका ऐसा चित्र पृथिवीके किस कविने चित्रित किया है!

हमारे आर्य साहित्यमें इस प्रकारके अनेक प्रेमादर्श हैं। वह प्रेम भक्तिसे समुन्नत और स्नेहसे आर्द्र है। सीताका प्रेम पतिभक्तिमें विलीन हो गया है। सीताकी प्रत्येक बात और प्रत्येक व्यवहारसे प्रेम और भक्तिका परिचय मिलता है। ऐसी प्रेम भरी पतिभक्ति किसीने कहीं देखी है? ऐसी प्रेम भरी भक्ति भरत और लक्ष्मणकी थी। उत्तर रामचरितके प्रथम अङ्कमें सीताके प्रेम और भक्तिका विशेष विकाश है। छाया नामक तृतीय अङ्कमें सीताके प्रेममें रामचन्द्र बड़े ही अधीर हुए थे। जिस प्रेमके कारण वे सोनेकी सीता बनाकर सदा मानसिक दुःखसे रोते कलपते थे, उस प्रेम और हृदयवेदना-का सुन्दर चित्र भवभूतिने इस अङ्कमें खींचा है। कौशल्या और जनकका प्रेम चतुर्थ अङ्कमें देखिये। सीताका वनवास तो हुआ था पर वह प्रेमके विचित्र मन्दिरमें जीवित थी। सीताके

बनवाससे वह प्रेम और भी उज्ज्वल हो गया था । उस प्रेमने यह प्रकट कर दिया था कि सीता रामकी कैसी प्रेमसर्वस्व सम्पत्ति है, जनकके कैसे आदरकी सामग्री है, कौशल्याकी कैसी बड़ी गृहलक्ष्मी है और देवर लक्ष्मणकी कैसी प्रेममयी और भक्तिमयी प्रतिमा है ।

हिन्दू स्त्रियाँ बड़े आदरकी सामग्री हैं । वे गृहलक्ष्मी हैं । उन्हींसे हिन्दू परिवारकी मान-मर्यादा है । वे भक्तिसे पति, सास, ससुर आदिके अधीन हैं और स्नेहसे पुत्र और देवरके । उनकी स्वतन्त्रता कभी और कहीं नहीं है। जो सन्तानको गर्भ-में धारण करती है, उनके उत्पन्न होनेपर लालन-पालनका भार उठाती है, वह स्वतन्त्र कैसे कही जा सकती है ? उनकी पराधीनता एक प्रकार स्वाभाविक है। इससे हिन्दू स्त्रियाँ सैकड़ों बन्धनोंसे जकड़ी हुई हैं । मनुने ही इन बन्धनोंको नहीं बनाया । जिस प्रकार उन्होंने भक्ति, प्रेम और स्नेहसे सबको बाँध रक्खा है उसी प्रकार सभीने उनको भी प्रेमपाशमें बाँधा है । परस्पर बन्धनमें बँधकर हिन्दू परिवार दृढ़ बना हुआ है । यह प्रेमकी अधीनता नहीं है, इसे प्रेमकी पुष्टि और पूर्णता कहना चाहिए । प्रेम भक्तिसे मिला हुआ है और भक्ति प्रेमसे । भक्ति और स्नेहके सूत्रमें हिन्दू संसार गुँथा हुआ है । ऐसे ही संसार-के चित्र और आदर्श हमारे साहित्यमें हैं ।

हिन्दू पारिवारिक शासन

आर्य साहित्यके प्रेमादर्शमें हम यह कहीं नहीं पाते कि नायक नायिका परस्पर ये बातें कहते हुए दिखाई पड़ें कि हम

तुम्हें प्यार करते हैं, खूब प्यार करते हैं, शपथ करके कहते हैं कि हम तुम्हें खूब चाहते हैं। बार बार कहते हैं कि प्यार करते हैं, प्यार करते हैं, प्यार करते हैं। तुम्हारे लिये छाती फटती है, प्राण जाते हैं। हिन्दू समाजमें इस दूकानदारीकी आवश्यकता ही नहीं है। हिन्दू समाजमें जो जिसका कर्तव्य है उसका साधन करना ही उसके लिये यथेष्ट है। उसी कर्तव्यपालनमें यथेष्ट स्नेह और ममता, दया और दाक्षिण्य, भक्ति और प्रेम प्रकट होता है। विवाह करनेका भार गुरुजनोंके हाथमें रहता है। विवाहके बाद जो जिसका कर्तव्य है उसका साधन ही उसके लिये यथेष्ट समझा जाता है। यहाँ रूपपिपासा और इन्द्रियलालसा चरितार्थ करनेके लिये विवाह नहीं होता। इसीसे विवाह वर-कन्याके हाथमें नहीं है। गुरुजन ही अपनी कन्या या पुत्रका विवाह कर देते हैं। यहाँ पतिके शासनमें स्त्री और स्त्रीके शासनमें पति रहता है। दोनों ही परस्परके शासनमें आबद्ध हैं। इसी पारिवारिक और नैतिक शासनमें लानेके लिये गुरुजन पुत्र-कन्याका विवाह करते हैं। संसारकी शृङ्खलामें शीघ्र बाँधनेके लिये ही थोड़ी अवस्थामें पुत्र-कन्याका विवाह कर दिया जाता है। जब यौवनका स्रोत बहने लगेगा, शत्रु प्रबल हो उठेंगे, उस समय पुत्र-कन्या संसारकी बेड़ीमें बँधे रहेंगे। उस समय वे संसारी हो चुके रहेंगे। उस संसारके बन्धनको काटनेके लिये उनकी शक्ति फिर कहाँ बची रहेगी? चारों ओरसे वे दृढ़ बन्धनमें बँधे रहेंगे। यह बड़ा कठिन बन्धन है। इसे काटनेकी शक्ति कहाँ और किसमें है? केवल परम भक्त ही ऐसा करें तो कर सकते हैं। नहीं तो हिन्दू

संसारसे एक पैर भी आगे बढ़ाना कठिन है। यौवनमें पदार्पण कर हिन्दू संसारमें यथेच्छाचारी होना बड़ी कठिन बात है। जो समाज इस प्रकार बन्धनसे बँधा है उसमें प्रेमका चिल्ला चिल्लाकर प्रकाश नहीं किया जाता। वह आप ही आप प्रकाशित हो जाता है। सांसारिक कार्योंमें वह प्रकाशित होता है। संसारके बन्धनोंमें वह और भी बढ़ता है। संसारके महायज्ञमें उसकी मात्रा पूरी होती है। पतिपत्नीका प्रेम क्रमशः अङ्कुरित होकर एक साथ रहने, संसारके कर्तव्य पालने, सन्तानोंके पालने पोसने आदिमें बढ़ता है। पति-पत्नी जितना ही मिलकर कार्य करते हैं उतना ही उनका प्रेम बढ़ता जाता है; जितना ही उनका सम्पर्क घनिष्ट होता जाता है उतना ही ममत्व बढ़ता जाता है; उनके प्रेमकी मात्रा रोग, शोक, सेवा, यत्न आदिमें क्रमशः परिपूर्ण हो जाती है। यह एक दो वर्षका सम्बन्ध नहीं, चिरजीवनका सम्बन्ध है। यूरोपीय समाजमें ऐसा नहीं है। वहाँ तो लड़के लड़कियाँ जवान हो जाती हैं पर उनका विवाह नहीं, कोई सांसारिक धर्म नहीं। वे स्वच्छन्द होकर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। उनकी इन्द्रियलालसा प्रबल है; पर उस लालसाकी कोई व्यवस्था नहीं,—कोई पारिवारिक शासन नहीं। सर्वसाधारणका न तो कोई धर्म है और न कोई कर्तव्यज्ञान। है भी तो उतना प्रबल नहीं जिससे वे आत्मशासनमें स्थिर रहें। इसीसे वे यौवनके प्रबल प्रवाहमें बह जाते हैं। इस प्रवाहमें बहकर कौन कहाँ जा पड़ेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं। यौवनकी प्रकृतिको रोक रखना बड़ा ही कठिन है। जहाँ हिन्दू संसारके सुदृढ़ शासनका अभाव है, वहाँ युवाओंका

यथेच्छाचारी होना निश्चित ही है। इस दुर्दमनीय यौवनकी यथेच्छाचारिता ही हम विलायती साहित्यमें अधिकतर देखते हैं।

हिन्दू परिवारका प्रेम-विकाश

आर्य साहित्यके प्रेमादर्शमें पति-पत्नीका प्रेम अत्यन्त शान्त, किन्तु वर्द्धित और तरङ्गित देख पड़ता है। वह प्रेम पहले पूर्वानुरागसे प्रबल होता है। अल्पवयस्क पतिपत्नीके प्रेममें पूर्वानुरागकी प्रबल धारा प्रवाहित होती है। वह धारा भीतरही भीतर खूब बढ़ती जाती है। छिपा हुआ प्रेमस्रोत बाहर आकर प्रकट होना चाहता है। उस प्रेमस्रोतका थोड़ा आभास देखकर बड़ोंको बड़ा ही आनन्द होता है। नये अनुरागके प्रकाशित होनेके भयसे नवोढ़ा अपने अन्तरमें बहुत यत्नसे उसे छिपाये रहती है। जितना ही उसे छिपानेका यत्न करती है उतनाही वह बढ़ता जाता है। बीच बीचमें उसकी बिजली-कीसी ज्योति चमक जाती है। इस पूर्वानुरागके अप्रकाश्य होनेके कारण ही हमारे आर्य साहित्यमें शान्त, थोड़ा और केवल सङ्केतसे उसका प्रकाश किया गया है। नवोढ़ाका वह प्रेम क्रमशः प्रौढ़ होता है और नवोढ़ा प्रौढ़ा होकर गृहिणी बन जाती है। संसार उसी गृहिणीके प्रेमका है। उसका प्रेम फिर चारों ओर फैल जाता है और उसके पात्र होते हैं स्वामी, देवर, सास, ससुर, जेठ तथा अपने पुत्र, कन्या आदि। आर्य साहित्यमें इसका सुन्दर चित्र अङ्कित किया गया है। कौशल्या, गान्धारी, सुमित्रा, कुन्ती, सीता, द्रौपदी आदि

सभी इसी प्रेमके चित्र हैं। बूढ़ी हिंन्दू स्त्रियाँ मायामोहमें अधिक जकड़ी हुई हैं। बूढ़ी स्त्रियोंका हृदय स्नेहका समुद्र है। उसी स्नेहसे सारे संसारको उन्होंने वश कर रक्खा है। गौतमीका स्नेह ऐसा ही है, कौशल्याका स्नेह वही है।

आर्य साहित्यमें शृङ्गार

इसी प्रेमके वर्णनमें आर्य साहित्यके कालिदास प्रभृति आधुनिक कवियोंने शृंङ्गार रसकी अवतारणा करके दाम्पत्य प्रेमका अनेक भाव-भङ्गीसे परिचय दिया है। इन वर्णनोंकी ओर उँगली उठाकर बहुतसे लोग यह कह सकत हैं कि क्या आर्य साहित्यमें विलासिता नहीं है ? हम कहते हैं कि है। किन्तु वह वैसे ही है जैसे चन्द्रमामें कलङ्क। जो वस्तुतः चन्द्रमा है उसमें यदि कलङ्क हो तो उससे वह अधिक शोभायमान ही होगा। किन्तु जो वस्तुत: चन्द्रमा ही नहीं है उसमें कलङ्क ही क्या ? वह तो आद्यन्त कलङ्क ही कलङ्क है। आय साहित्यके स्थान स्थानमें इस प्रकारके कलङ्क रहने पर भी, उससे सुधापूर्ण चन्द्रमाके समान काव्य-रसका किसी प्रकार व्याघात नहीं होता। समग्र काव्य विलासिताके दूषित रससे कलाङ्कित नहीं हैं। हमारे कविगण रसके चमत्कारको यथेष्ट समझते थे। जिस रससे हृदयको आर्द्र करना होता है, जो रस काव्य समाप्त होने पर हृदयमें स्थायी भावका संचार करता है. वे उस रसकी ओर दृष्टि रखकर ही काव्यकी रचना करते थे। इसीसे किसी काव्यमें वीर रसकी, किसी काव्यमें करुणकी और किसी काव्यमें किसी अन्य रसकी प्रधानता है। उसके बीचमें अन्यान्य रसोंका

भी समावेश है, पर वे प्रधान रसमें किसी प्रकारका व्याघात नहीं करते। जो जिस रसका विरोधी नहीं है उसके समावेशसे काव्य अनेक रसोंसे अलंकृत रहता है। काव्यमें अनेक रसोंके रहने पर भी उनका सङ्गठन प्रधान रस पर ही निर्भर रहता है। वही प्रधान रस हृदय पर बराबर अधिकार जमाये रहता है और काव्यकी समाप्ति होने पर स्थायी रूपसे विद्यमान रहता है। इसीसे आलङ्कारिकोंने कहा है कि "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"।

स्त्रैण शासन

हिन्दू समाजमें जैसे पति-पत्नीका प्रेम व्यवस्थानुसार धीरे धीरे परिवर्द्धित होता है उसका दिग्दर्शन करा दिया गया है। इससे हिन्दू संसारमें पत्नी पतिके प्रति जितनी अनुरक्त और एकनिष्ठ होगी उतना ही पति भी पत्नीके प्रति अनुरक्त होगा। हिन्दू संसारमें अधिकांशतः पति-पत्नीका प्रेम अवश्यम्भावी है। पत्नीके प्रति पतिका प्रेम-भाव अत्यन्त विरल देखा गया है। सीता रामको जितना प्यार करती थी, राम भी सीताको उतना ही प्यार करते थे। पतिमें एकान्त अनुराग करके अपना जीवन बिताना पत्नीके लिये सम्भव हो सकता है, पर पत्नीके प्रणयपाशमें फँसकर अपने कर्तव्यकी उपेक्षा करना पतिके लिये उचित नहीं है। क्योंकि पत्नीमें विशेष अनुराग और पक्षपात होना स्त्रैणताका कारण हो जाता है। * ऐसा

* पत्नीप्रेमी इस प्रसङ्गपर नाक भौं सिकोड़ेंगे और अनुवादक पर झुँझलायेंगे। कारण यह है कि वे इस विचारको संकुचित और पक्षपातपूर्ण समझेंगे। पर लेखकके विचारसे अनुवादक सहमत है। क्योंकि यदि दोनोंमें परस्पर वर्णित भाव रहे तो

होनेसे समाजमें एक प्रकारकी गड़बड़ी पैदा हो जाती है। पति केवल पत्नीका ही पति नहीं है। वह परिवारका भी पति है। समाजके साथ उसका बड़ा घना सम्बन्ध है। वह यदि राजा है तो समग्र प्रजामण्डलीका प्रतिपालक पति है। पत्नीका कर्तव्य केवल परिवारमें ही है; किन्तु पतिका कर्तव्य संसार भरमें है। इस कर्तव्य-बुद्धिका ध्यान रखते हुए अपनी भार्यासक्ति पर प्रभुत्व रखना आवश्यक है। ऐसे शासनमें असमर्थ होनेके कारण ही मेघदूतके यक्षको देशान्तर हुआ था। उस देशान्तरित यक्षका प्रेम कितना प्रगाढ़ था, इसका चित्र कालिदासने अपनी अतुलनीय लेखिनीसे चित्रित किया है। दूसरी ओर देखिये, रामचन्द्रने प्रजानुरागके वशवर्ती होकर सीताको वनवास तक दे दिया था। ऐसा करनेसे यह

धार्मिक, नैतिक और सामाजिक व्यवस्थाका निर्वाह हो ही नहीं सकता। साहित्यमें सर्वत्र ही अधिक भावानुरक्ति दूषित बतलाई गई है। 'अनासक्तः सुख सेवेत्' की ही समुचित शिक्षा है। दुष्यन्तने शकुन्तलाके प्रति अपना अत्यधिक प्रेमभाव प्रकट किया; तथापि वे अपने कर्तव्यको नहीं भूले। उन्होंने अपनी अत्यधिक आसक्ति न प्रकटकर सखियोंसे केवल यही कहा कि तुम्हारी शकुन्तला, मुझे पृथ्वी जैसी प्यारी है वैसी ही प्यारी होगी। यदि पुरुष स्त्रीके वश हो जायँ तब तो पाश्चात्य और प्राच्य समाजमें कुछ भेद ही न रह जायगा। हिन्दुओ, सावधान! आप इस विचारको कभी न भूलें। पूर्वी हवामें उड़ न जायँ। आप कृष्णके समान पत्नीको कन्धेपर सदा लिये हुए न फिरें। आवश्यकता हो तो समय पड़ने पर उनके समान स्वाधीनपतिकाका मान भी भङ्ग कर डालें। आप रामके समान प्रेमी हों। पत्नीकी स्वर्णप्रतिमा न सही तो फोटोको ही कलेजेसे लगाकर प्रेम प्रकट करें; पर उनके समान ही अनासक्त बने रहें। भूलकर भी कभी किसीको बिहारी कविके समान ऐसा दोहा बनानेका अवसर न दें।

> नहिं पराग नहि मधुपरस, नहिं विकास एहि काल।
>
> अली कली हीमें फँस्यो, आगे कौन हवाल॥

कभी कहा जा सकता है कि रामचन्द्र सीतासे प्रेम नहीं करते थे ? आर्य साहित्यमें प्रगाढ़ पति-प्रेमको पतिभक्ति कहते हैं; पर प्रगाढ़ पत्नी-प्रेमको स्त्रैणता कहते हैं, पत्नी-भक्ति नहीं। हिन्दू समाजमें सुनियम-रक्षाके लिये जो व्यवस्था स्थापित है उसका पालन करना ही कर्तव्य है—मनुष्यत्व है।

स्वाधीनता और स्वेच्छाचारिता

हिन्दू समाजमें नर-नारियोंकी जैसी स्थिति है उसका कुछ दिग्दर्शन करा दिया गया है। इस समाजका संगठन ही ऐसा है जिससे मानव प्रकृतिके पशुभावकी स्फूर्ति ही नहीं होती। देशाचारकी अनुकूलतामें देवभावका ही विशेष विकाश है। सभी देशाचार मनुष्यत्व और देवत्वके परिपोषक हैं। इसलिये देशाचारके अधीन होना मनुष्यत्व और देवत्वके अधीन होना है। सामाजिक बन्धनमें बाँधकर नरनारियोंको मनुष्यत्व-की सीमाके भीतर रखना सामाजिक नीति और कौशल है। देव-भावकी अधीनता रखना ही मानवोंकी आत्माधीनता है। इसी प्रकार आत्माधीनता और पारमार्थिक परतन्त्रता ही मनुष्यकी स्वाधीनता है। आत्मा जब परमार्थके अधीन होता है तभी वह यथार्थतः अधीन कहा जा सकता है। जो इस अधीनता या प्रकृत स्वाधीनताको छोड़कर इन्द्रियोंकी अधीनताको स्वीकार करते हैं वे स्वाधीन नहीं कहे जा सकते; वे अपनी इच्छाके ही अधीन हैं। इच्छा बाह्य जगत्के प्रभावसे सदा परिवर्तित होती रहती है। वह इच्छा ऐन्द्रिय-ज्ञानके अधीन होकर बहि-र्जगतके अधीन हो जाती है। उस इच्छाका दास होना स्वेच्छा-

चारिता है । जो स्वेच्छाचारिताको दूरकर प्रकृत स्वाधीनताके पथमें आते हैं वे ही मनुष्यत्वके यथार्थ पात्र हैं । हम देशाचारके अनुकूल चलनेसे ही उस प्रकारके मनुष्यत्वके पात्र हो सकते हैं । जो प्रेम-प्रवृत्ति ऐसे मनुष्यत्वकी साधक है उसीका विकाश हिन्दू समाजमें है—आर्य साहित्यमें है ।

आर्य्य साहित्यमें प्रेम-गौरव

आर्य साहित्यमें प्रेमका विकास भक्तिमें दिखलाई पड़ता है । इसी भक्तिमें प्रेम बढ़ता और शासित होता है । इसी शासन और वृद्धिमें प्रेमका गौरव और उच्चता है । आर्य साहित्यका यह गौरव पाश्चात्य साहित्यमें जरा भी दिखलाई नहीं पड़ता । आर्य साहित्यकी पतिभक्ति, भ्रातृभक्ति, पितृभक्ति, मातृभक्ति, गुरुभक्ति, वात्सल्य, भार्यानुराग, शिष्यानुराग आदिमें जिस प्रकार प्रकार प्रेमके विकास और शासन देख पड़ते हैं वैसे पाश्चात्य साहित्यमें कहाँ हैं ? पाश्चात्य साहित्यमें कहीं सीता, लक्ष्मण, राम या युधिष्ठिर दिखाई पड़ते हैं ? इनके होनेका स्थानही वहाँ नहीं है ।

बाल्यविवाहका शुभ परिणाम

आर्य साहित्यमें जो प्रेमादर्श है उसमें प्रेमका सौन्दर्य्य देख पढ़ता है । सीता यदि सौन्दर्य्यकी सृष्टि कही जाय तो यह अवश्य कहना होगा कि आर्य साहित्यमें प्रेमका सौन्दर्य्य खिला हुआ है । आर्य साहित्य प्रकृत प्रेमके चित्रोंसे भरा हुआ है । स्त्री-समाजमें प्रकृत प्रेमका सञ्चार करनेके लिये ही हिन्दू समाजमें बालविवाहकी प्रथा चली है । कोमलमति कन्याओंका

नया अनुराग थोड़ी ही अवस्थासे पति और गुरुजनोंमें होता है। जब प्रेमपुष्प हृदयमें मुकुलित होने लगता है तभी कोमल हृदयवाली कन्याएँ उपयुक्त पतियोंको समर्पण कर दी जाती हैं। उनका प्रेम स्वतः उपयुक्त पात्रको पाकर बढ़ने लगता है। यौवनके आरम्भके साथ साथ अनुराग भी बढ़कर पतिमें ही समर्पित हो जाता है। किशोरावस्थासे ही कन्याएँ श्वशुरकुलमें लालित पालित होनेके कारण उसी कुलसे उनकी ममता बढ़ जाती है और गुरुजनोंकी सेवामें उनका विशेष भाव हो जाता है। इसीसे आर्य नारियोंका संसार शान्ति-निकेतन और प्रेममय हो जाता है। आर्य नारियाँ अनेक गुणोंका आधार होती हैं। पातिव्रत्य, प्रेम, स्नेह, ममता, भक्ति, सरलता, सत्यता, दया, क्षमा, धीरता, सहिष्णुता, कोमलता, अधीनता, लज्जाशीलता, श्रमशीलता आदि अनेक गुणोंसे आर्य नारियाँ भूषित हो जाती हैं। हमारी सुन्दर सामाजिक व्यवस्था, शिक्षा और बालविवाहका ही यह फल है कि आर्य नारियाँ अनेक गुणोंसे भूषित हो जाती हैं। इस व्यवस्थामें उलट फेर होनेसे यह बात नहीं रह जायगी। यह व्यवस्था जिस प्रकार सुरक्षित हो, हमें वही उपाय करना चाहिए। *

---

* इस प्रसङ्गसे मैं सहमत नहीं हूँ। इसीसे लेखककी लम्बी चौड़ी दलीलोंका अनुवाद छोड़ दिया गया है। बाल्यविवाहके गुण भी हैं, दोष भी। पर दोषोंकी ही संख्या अधिक है। यदि इन दोषोंको दूर करनेकी चेष्टा की जाय तो बाल्यविवाह दूषित नहीं हो सकता। दोष सर्वसाधारणको विदित हैं। उनका विशेष उल्लेख अप्रासङ्गिक होगा। प्रौढ़ विवाह होनेके समय तक यदि बाल्यविवाहके दूषण युवकोंके मनमें न पैठें तो यही विवाह उत्तम है। इसके लिये बालकोंके लिये प्रारम्भसे ही आदर्श नैतिक शिक्षा, सुन्दर सहवास और अच्छी पुस्तकोंका पठन पाठन आवश्यक है। यदि युवक

विलायती प्रेमका साम्य-भाव

हिन्दू संसार और समाजमें जो भक्ति एक अपूर्व पदार्थ है, जो इस संसार और समाजका दृढ़ बंधन है, वह भक्ति विलायती साहित्य और समाजमें बहुत ही दुर्लभ है। क्योंकि वहाँ पति पत्नीके सम्बन्धमें उच्चता, नीचता और अधीनता नहीं है। वहाँ प्रेममें विनिमय है—अदला-बदला है। आप प्रेम कीजिये, हम भी प्रेम करेंगे। यदि यह बात नहीं है तो आप कौन, हम कौन? हममें आपमें कोई सम्बन्ध नहीं। आजसे आप अलग और हम अलग। उस समाजमें पति-पत्नीका त्याग, स्त्रियोंका बहुविवाह, जवानीमें स्वेच्छाचारी होनेके कारण पति-पत्नीमें साम्य भाव और स्वेच्छाचारिता बड़ी प्रबल है। इसीसे उस साहित्यमें इन दोनोंका ही पूर्ण परिचय मिलता है। उस साहित्यकी निरन्तर आलोचनासे पाठकोंके मनमें उसी साम्य-भावका सञ्चार होता है। उस साम्य भावका प्रभाव अब हमारे हिन्दी साहित्यपर भी पड़ने लगा है। नये शिक्षा-दीक्षा-सम्पन्न लोग साम्य-भावके प्रचारमें जोर लगा रहे हैं। किन्तु इस समाजमें विलायती प्रेम और साम्य-भावके लिये स्थानही नहीं है। उनके प्रवेशसे बड़ा उपद्रव खड़ा हो जायगा। जिस समाजमें विवाह-बन्धनमें कोई उलट फेर नहीं, जहाँ पति-पत्नीका सम्बन्ध चिरकालिक है, जो समाज भक्ति और प्रेममें गुँथा हुआ है, जो सतीत्व पतिव्रताओंका लीलाक्षेत्र है,

---

ब्रह्मचर्यका पालन ठीक ठीक न कर सकें और अभिभावक ऐसी व्यवस्था करनेमें असमर्थ हों तो बाल्यविवाह उचित है। पर ऐसा करना लाचारीकी हालतमें ही अच्छा है।
अनुवादक।

सरलता, प्रेम, कोमलता, लज्जा, दया, क्षमा आदि जहाँ स्त्रियोंके गुण हैं, वहाँ साम्य-भावकी प्रबलतासे बड़ी भारी अशान्ति उठ खड़ी होगी। वहाँ चाहिए उच्च-नीचता, आत्माधीनता और उसीका नामान्तर स्वाधीनता। जो स्वाधीनता हिन्दू समाजमें है वह पाश्चात्य समाजमें नहीं है। जो स्वाधीनता पाश्चात्य समाजमें है उसका नाम है स्वेच्छाचारिता।

आर्य-साहित्यलोचनाकी आवश्यकता

हम यह नहीं चाहते कि प्रेम और भक्तिसे परिपूर्ण हमारा प्राचीन प्रतिष्ठित हिन्दू समाज उठ जाय और उसके स्थानपर विलायती समाज प्रतिष्ठित हो। इन दोनोंकी संगठनप्रणाली एकदम विपरीत है। दोनोंके प्रेमादर्शके सम्बन्धमें बहुतसे उदाहरण दिये जा चुके हैं। हमारे साहित्यके प्रेमादर्शमें भक्ति, श्रद्धा आदि उत्कृष्ट प्रवृत्तियोंकी उत्तेजना, स्फूर्ति और धर्मनैतिक शासनकी प्रबलता है; और विलायती आदर्शमें प्राकृतिक शत्रुओंकी प्रधानता है। शत्रु चपल इन्द्रियोंके सुखके अनुकूल हैं और शान्तिसाधक प्रेम, भक्ति, दया, धर्म आदिके प्रतिकूल हैं। इस आदर्शमें धर्मनैतिक शासनकी अधीनता है और उस आदर्शमें स्वार्थपर साम्य-भाव है। इस आदर्शमें स्वाधीनता और उस आदर्शमें स्वेच्छाचारिता है; इससे एक स्थानमें इन दोनों आदर्शोंका समावेश हो ही नहीं सकता। देशी आदर्शको छोड़कर हम जितनाही विदेशी समाज-नीतिका पीछा करेंगे, हमारा समाज उतना और वैसाही संगठित होगा। अन्तमें हिन्दू समाजके बदले विलायती समाज स्थापित

हो जायगा। हम अपने पवित्र और सुसंस्कृत समाजको अनेक दोषोंके आधार विलायती समाजमें डुबा देना नहीं चाहते; देवत्व और मनुष्यत्व खोकर पशुत्वमें पड़ना नहीं चाहते। किस उपायसे हम इस विपत्तिसे उद्धार पावेंगे? हमारे लिये विलायती साहित्यकी आलोचना आवश्यक हो गई है। केवल कमानेके लिये ही उसका पढ़ना आवश्यक नहीं है। उसके बिना पढ़े हम अनेक ज्ञानोंसे वञ्चित रह सकते हैं। किन्तु उस आलोचनाके साथ जिस प्रकार विलायती साहित्यके उद्‌धृत भावकी नीच प्रवृत्तिकी स्फूर्ति होती है उसका दमन करना आवश्यक है। स्वदेशी साहित्यकी आलोचनासे उसका दबाना सहज हो सकता है। इसलिये अँग्रेजी विद्याकी आलोचनाके साथ संस्कृत विद्याकी आलोचना भी आवश्यक है। हमारे घर और परिवारमें विलायती साहित्यका विष जिसमें न पैठे, इसीके लिये सदा सावधान रहना चाहिए। जिस स्वदेशी साहित्यकी आलोचनासे हमारा समाज एक समय अनेक गुणोंसे भूषित होकर विनीत और सुशिक्षित हुआ था, उस साहित्यसे विमुख न होनेमें ही हिन्दू समाजका यथेष्ट कल्याण होगा। साथही हम लोग भी उस साहित्यकी साधुता, पवित्रता, संयम, विनय, नैतिक सौन्दर्य और महान् उपदेशोंको समझ बूझकर उद्‌धृत विलायती भावोंको दबावेंगे तथा हिन्दू समाजको विध्वंस होनेसे बचावेंगे।

साहित्यमें वीरत्व।

वीरोंका आदर्श

आर्य कविगुरु वाल्मीकिने एक ओर सीताकी सृष्टि करके जिस प्रकार सतीका आदर्श दिखलाया है उसी प्रकार दूसरी ओर रामचन्द्रकी सृष्टि करके आर्य वीरका आदर्श दिखलाया है। सीतामें हम आर्य ललनाका सौन्दर्य, प्रेम, भक्ति और देवत्व देखते हैं और रामचन्द्रमें आर्य सन्तानका गौरव, पौरुष, वीरता और राजश्रीकी दिव्य ज्योति देखते हैं। जिस कुल और जातिमें आर्य सन्तानका जन्म होता है उसीमें उसके कुल-तिलक होने और उसी जातिमें गौरव बढ़ानेसे उसका गौरव होता है। रामचन्द्रमें वही गौरव देख पड़ता है। वे रघुकुल-तिलक और क्षत्रियराज प्रधान हैं। उनका यह गौरव दिखलानेके लिये ही वाल्मीकिने पहले राजा दशरथका चित्र खींचा है। दशरथकी वीरता और राज्यशासन, प्रभुत्व और यश, मन्त्रणा और कौशल, सम्पद् और सुहृदयता, राष्ट्र और दुर्ग, धन और सेनाबल, धर्मपरायणता और तपस्या, विद्या और बुद्धि, सभीका यथार्थ वर्णन करके हमारे सामने चित्र खड़ा कर दिया है। अयोध्या राज्यका सुख, सम्पद् और सौन्दर्य देखकर हम बिलकुल मुग्ध हो जाते हैं। हम जानते हैं कि और कोई दूसरा राजा ऐसा नहीं हो सकता। किन्तु उसके बाद देखते हैं कि उसकी अपेक्षा भी एक उज्ज्वल तारा उस राजकुलमें उदित हुआ। उसका प्रभाव एक ऋषिने

आकर सबको विदित कराया। ऋषिने ज्ञानबलसे जान लिया था कि रघुकुलमें जिस असामान्य वीरका अवतार हुआ है वह तरुणावस्थामें ही आश्रम-पीड़ा और तपोविघ्नको दूर करेगा। जब दशरथकी राजसभामें जाकर विश्वामित्रने वीर कार्यके लिये रामचन्द्रकी प्रार्थना की, तब रामका गौरव हमारे हृदयमें उदित हुआ। हमने एक दिव्य नक्षत्रकी उज्ज्वल आभा सहसा देख पाई। ऐसेही नारदके मुखसे श्रीकृष्णका अवतार-गौरव भी विदित हुआ था।

विश्वामित्र वीर कार्यके लिये रामचन्द्रको ले गये। रामचन्द्रने भी अपार साहस करके उस कठिन काममें जिस वीरताका परिचय दिया था उसका वर्णन वाल्मीकि कर गये हैं। किन्तु वहीं उस वीरताका अन्त नहीं हुआ। विश्वामित्र उस वीरत्व-विकाशके स्थानसे उन्हें वीरता प्रकाश करनेके एक और स्थानमें ले गये। जनककी स्वयम्बर सभामें बड़े बड़े महावीर महाराज उपस्थित होकर धनुष तोड़नेमें परास्त हो गये थे; उसी कार्यमें रामचन्द्र प्रवृत्त हुए। फिर रामचन्द्रने किस प्रकार अतुल विक्रमके साथ धनुर्भङ्ग करके भारतमें यशोविस्तारके साथ अमानुषिक वीरताका परिचय दिया था, उसे रामायण पढ़नेवाले भली भाँति जानते हैं। किन्तु यह असामान्य वीरता भी कोई बात नहीं है। किन्तु उनकी अलौकिक वीरताके परिचयका उससे भी उज्ज्वल एक अन्य क्षेत्र दिखा दिया। सीताके साथ राम अयोध्या लौट रहे थे। रास्तेमें परशुरामजी मिले*। उन्होंने पृथ्वीको एक प्रकार क्षत्रिय-

* श्रीतुलसीदासकृत रामायण पढ़नेवालोंको आश्चर्य मालूम होगा कि परशु-

हीन कर दिया था। अतुलनीय वीर कार्तवीर्याजुन जैसा भी उनसे हार गया था। किसी क्षत्रिय वीरके तेजको बिना मन्द किये परशुरामने नहीं छोड़ा था। उसी परशुरामने रामचन्द्रसे द्वन्द्व युद्धकी प्रार्थना की। उन्होंने हरधनुकी अपेक्षा भी एक कठिन धनुष रामचन्द्रको चढ़ानेके लिये दिया। किन्तु जिस रामने शिवधनुका भङ्ग किया था वे वैष्णव धनुका भङ्ग न करें, यह कब हो सकता था? उन्होंने उस धनुको बड़ी वीरताके साथ और बहुतही सहजमें परशुरामके सामने चढ़ा दिया। ऐसी अद्भुत वीरताका परिचय पाकर परशुराम परम प्रसन्न हुए। मनही मन उन्होंने जान लिया कि रामचन्द्र वीरतामें हमसे भी प्रबल हैं। परशुराम युद्ध करनेसे विमुख हुए। उनका घमंड चूर चूर हो गया। रामकी अद्भुत वीरता देखकर प्रफुल्लित चित्तसे दशरथ रामके साथ अयोध्या लौट आये।

वाल्मीकिने रामचन्द्रकी इस प्रकार बालवीरता दिखाकर उनकी जीवनी प्रारम्भ की। जान पड़ता है कि इसी बालवीरताको हीन बनानेके लिये व्यासने श्रीकृष्णकी बाल्यलीला दिखलाई है। कालिदासने रामका गौरव और बढ़ानेके लिये रघुकुलका वर्णन बहुत पहलेसे ही आरम्भ किया है। उन्होंने पहले दिलीपका चरित्र चित्रित किया है। उनके पुत्र रघुने दिलीपके चरित्रको निष्प्रभ बनाकर किस प्रकार कुलगौरव

रामजी रामको रास्तेमें कैसे मिले; पर बाल्मीकीय रामायणादिमें और भट्टि आदि कई काव्योंमें परशुरामके रास्तेमें मिलनेका वर्णन है। तुलसीकृत रामायणमें परशुरामका धनुर्यज्ञ मण्डपमें आनाही वर्णित है। अनु०

बढ़ाया है, इसका चित्रण बहुत ही सुन्दर रूपसे किया गया है। रघु इतने यशस्वी हुए कि उनके नामसे वह वंश प्रसिद्ध हुआ। किन्तु कालिदासने यहीं समाप्त नहीं किया। उन्होंने आगे यह दिखलाया कि रघुकुलमें रामचन्द्रने जन्म लेकर उस कुलको सर्वश्रेष्ठ और अधिक गौरवपूर्ण बना दिया। इसीसे रामचन्द्रने रघुकुल-तिलक कहलाकर सभीका यश मिटा डाला। रघुकुल रामयशसे गौरवान्वित हुआ।

पृथ्वीका अन्य देशीय कोई राजवंश इस प्रकार धारावाहिक क्रमसे उत्तरोत्तर उत्कर्ष लाभ करता गया हो, ऐसा वृत्तान्त हम किसी जातिके इतिहासमें नहीं पाते। दिलीपके बाद रघु, रघुके बाद अज, अजके बाद दशरथ और दशरथके बाद रामचन्द्रसे राजकुल अन्तिम सीमाको पहुँच गया। कुश, अतिथि, सुदर्शन आदि बादके जितने राजे हुए हैं उन्होंने रामचन्द्रकी ही श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया है। रामचन्द्र सभीसे बढ़े हुए हैं, उनसे बढ़ा चढ़ा और कोई नहीं हो सका। कालिदासके द्वारा रामचन्द्रका ही गौरव प्रतिष्ठित हुआ है। आर्य साहित्यमें इसी प्रकार राजाओंका इतिहास मिलता है। सर वाल्टर स्कॉट स्कॉटलैण्ड और इंग्लैंडके सीमान्तप्रदेशीय राजाओंकी रक्त-रञ्जित वीरताके यशोगानमें रोमाञ्चपूर्ण होते थे; और आर्य कवि इस प्रकारके वीर राजाओंके यशोगानमें आनन्दमुग्ध होते थे।

रामका अपारिसीम भुजबल और क्षात्रिय तेज दिखाकर वाल्मीकिने रामचन्द्रकी अन्य प्रकारकी वीरता भी दिखलाई है। भुजबल प्रकट करनेमें और राक्षसों तथा दैत्योंका विजय

करनेमें जो क्षत्रिय वीरता प्रकट होती है वह बाह्य वीरता है। इस वीरतामें पृथ्वीके अनेक दिग्विजयी वीर यशस्वी हुए हैं। किन्तु जिस वीरतामें भारतको छोड़कर समस्त पृथ्वीके वीर रामचन्द्रके निकट परास्त हैं, रामकी उस आभ्यन्तरिक वीरता-को वाल्मीकिने अबतक नहीं दिखलाया। हम इन दोनों प्रकारकी वीरताओंकी आलोचना करते हैं।

आसुरिक वीरता

आर्य साहित्यमें प्रकृत मनुष्यत्व क्या है, यह दिखलाया जा चुका है। मनुष्य जहाँ पशुकी समतामें आ जाता है वहाँ उसकी श्रेष्ठता नहीं कही जाती। मनुष्य जहाँ पशुसे भिन्न दिखलाई पड़ता है वहीं उसका मनुष्यत्व है। पशु जिस प्रकार इन्द्रिय और काम, क्रोध आदि रिपुओंके वशीभूत होता है, उसी प्रकार यदि मनुष्य भी उनके वशीभूत होकर पागल हो जाय तो वह भी पशु ही समझा जाता है। किन्तु यदि वह उन इन्द्रियों तथा सारे रिपुओंपर विजयी हो जाय तो उसको मनुष्य कहेंगे। महाभारतमें लिखा है—

"कामक्रोधसमायुक्तो हिंसालोभसमन्वितः।
मनुष्यत्वात्परिभ्रष्ट-स्तिर्यग्योनौ प्रसूयेत॥
तिर्यग्योन्याः पृथग्भावो मनुष्यार्थे विधायते।

"काम, क्रोध, लोभ और हिंसासे युक्त मनुष्य मनुष्यत्वसे अलग होकर तिर्यग्योनिमें जन्म ग्रहण करता है। तिर्यग्योनिसे छुटकारा पानेपर वह मनुष्य-जन्म पाता है।"

राजर्षि नहुष इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वेदमें जो विषय

सूक्ष्म रूपसे दिखलाया गया है वही पौराणिक काव्योंमें स्थूल रूपसे दिखलाया गया है। क्योंकि जिसकी कल्पना स्थूल रूपसे होती है, जो प्रत्यक्ष सा प्रतीत होता है, उसका संस्कार हृदयमें अधिकतर होता है। इससे महाभारतने साकार कल्पना करके दिखलाया कि राजर्षि नहुष रिपुओंके वशमें होनेके कारण स्वर्गसे भ्रष्ट होकर सर्प योनिमें पैदा हुए। वे स्वर्गमें जाकर इन्द्राणीको देखते ही कामान्ध हुए। उन्होंने अहङ्कारी होकर ऋषियोंको वाहक बनाया और अगस्तके शापसे ऐसा दण्ड भोगा।

मनुष्योंके ये शत्रु कितने प्रबल हो सकते हैं, प्रबल हो· कर कहाँ तक नीचताके गड्ढेमें ढकेल सकते हैं, यह यूरोपीय वियोगान्त नाटकोंमें, और विशेषतः ऐतिहासिक वीरोंमें दिखलाई पड़ता है। "साहित्यका आदर्श" नामके प्रस्तावमें हमने वियोगान्त नाटकोंकी प्रकृतिका वर्णन किया है। वहाँ यह दिखलाया गया है कि वियोगान्त नाटकके प्रधान प्रधान पुरुष और स्त्री-चरित्रमें रिपुकी कैसी प्रबलता होती है। उस शत्रुके वशवर्ती बनकर मनुष्यकी जो उन्मत्तता होती है उसके प्रभावसे नररूपी असुर कितने अकार्य साधन कर सकते हैं, यह वियोगान्त नाटकोंमें खूब प्रत्यक्ष देख पड़ता है। यूरोपमें ट्रेजेडीका गौरव बढ़ाकर उसके पात्रोंका भी गौरव बढ़ाया गया है। वे प्रधान पात्र वीर रूपसे लोगोंके मनमें बैठे हुए हैं। जो कल्पनामें सदा वर्तमान रहते हैं वे कल्पनाके मित्र हो जाते हैं। जो मानस क्षेत्रमें सदा अवतीर्ण रहा करता है उससे प्रायः घृणा नहीं होती। वह क्रमशः गौरवान्वित होकर वीर

सा भासने लगता है। लेडी मैकबेथ लोभमें वीर रमणी है, कामद्वेषमें ओथेलो वीर है, कौशलमें यागो है। ट्रेजेडीमें इसी प्रकारकी वीरताकी प्रतिष्ठा है।

यूरोपीय ट्रेजेडीमें जिस वीरताकी प्रतिष्ठा है, इतिहासमें भी उसी वीरताका गौरव है। कामनाकी प्रबल पिपासासे परतन्त्र होकर, लोभकी सर्वग्रासिनी लालसाके वशवर्ती बनकर, अहङ्कारसे पृथ्वीको तुच्छ समझकर और घोर उन्मत्ततामें फँसकर जिन रणप्रिय, विजयोल्लासी नररूपी दानवोंने पृथ्वीको रक्तसे डुबाकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया है वे ही यूरोपीय इतिहासमें विख्यात वीर समझे जाते हैं और सबके आदरणीय बनते हैं। इसी प्रकारके वीर अलेक्जेन्डर, जूलियस सीजर, नेपोलियन, हनीबाल आदि हैं। वे ट्रेजेडीके वीरोंकी जीवन-प्रतिमा हैं। इन सबने समय समय पर पृथ्वीमें तहलका मचा दिया था। पृथ्वीपर चारों ओर रक्त-गङ्गा बहाकर महावीरता-की प्रसिद्धि पाई थी। आर्य साहित्यके असुरोंने भी समय समय पर अवतीर्ण होकर काम, क्रोधादिकी मूर्ति धारण करते हुए पृथ्वी पर प्रतिष्ठा पाई थी। यह प्रतिष्ठा वैसी ही है जैसी यूरोपीय ऐतिहासिक वीरों और ट्रेजेडीके पात्रोंकी है। इसीसे आर्य साहित्यमें देखा जाता है कि ये असुर समय समय पर स्वर्गमें भी प्रभुत्वका विस्तार कर देवताओंकी प्रतिष्ठा पा चुके थे। किन्तु यूरोपीय इतिहास और आर्य साहित्यमें बहुत विभेद पाया जाता है। यूरोपीय इतिहास और ट्रेजेडीमें वे वीर सदाके लिये प्रतिष्ठित और देवोपम हो चुके हैं। आर्य साहित्यमें उन वीरोंके विक्रम और दर्प चूर्ण, उनके गर्व खर्व,

लोभ निवारित, तेज संहृत और प्रभुत्व तथा प्रताप नष्ट कर दिये गये हैं । कृष्ण और राम आदि देवांश-धारियोंने उन्हें नीचा दिखला दिया है। देवताके न होनेसे देवताका नाश सम्भव नहीं । मनुष्योंकी रिपुप्रबलतासे पशुत्वके जो आसुरिक देवता उत्पन्न होते हैं उन देवताओंको देव वीर ही नष्ट कर डालते हैं।

ट्रेजेडी और यूरोपीय इतिहासके जो वीर हैं और आर्य साहित्यके जो असुर हैं वे एक-जातीय वीर हैं । उनके शत्रु बड़े प्रबल हैं । इसी लिये उस प्रकारके एक वीरका इतिहास लिखनेसे ही जातिके समस्त वीरोंका इतिहास लिखा जायगा । आर्य कवियोंने उन समस्त वीरोंको एककर उनके एक आदर्श वीरकी सृष्टि की है । व्यासके दुर्योधनमें ही यूरोपीय अनेक वीरोंका चित्र चित्रित है । इसी प्रकार रामायणका रावण है । भोगवासना बढ़कर मनुष्यको किस प्रकार अपने चंगुलमें फँसा लेती है, मनुष्य किस प्रकार लोभके वशवर्ती होकर दूसरेको सूईकी नोकके बराबर भी भूमि देनेके लिये तैयार नहीं होता, इसीकी प्रतिमा दुर्योधन है । फिर इन्द्रिय-लालसा और काम बढ़कर किस प्रकार मनुष्यको नाशके पथमें ले जाते हैं, इसीका मूर्तिमान चित्र रावण है । ऐसे असुर वीरोंके आदर्श चरित्र आर्य साहित्यमें चित्रित किये गये हैं । किन्तु चित्रकार उतनाही लिखकर स्थिर नहीं हुए; क्योंकि यदि वे उतनाही लिखकर शान्त हो जाते तो उन वीरोंके चरित्र पढ़नेसे बड़ा भारी कुफल फलता । इसी प्रकार के समस्त पार्थिव वीरोंके चरित्र लिखना भी उन्होंने आव-

श्यक नहीं समझा। क्योंकि सर्वदा पापचित्र देखनेसे कल्पना भी दूषित हो जाती है। इसी लिये आर्य कवियोंने उस प्रकारकी आसुरिक वीरताका चित्र खींचकर काव्यमें एक ओर रक्खा है और दूसरी ओर दूसरे प्रकारके वीरोंका उज्ज्वल चित्र खींच रक्खा है। धर्मवीरोंके उज्ज्वल चित्रोंने पशुवीरोंको अन्धकार-में दबा रक्खा है। इसका फल यह होता है कि कल्पना धर्म-भावसे ही परिपूर्ण रहा करती है। इसीसे ये काव्य-वीर एक प्रकारके ऐतिहासिक चित्र हैं। महाभारतमें केवल दुर्योधनका चरित्र पढ़िये तो आपको यूरोपीय वीरोंके इतिहास पढ़नेका ही फल होगा। पर साथही समस्त रामायण और महाभारत पढ़ जाइये तो आपकी कल्पना कभी दूषित नहीं होगी।

शार्लमेन, अलेक्ज़ेंडर, जूलियस सीजर, नेपोलियन, फ्रेडरिक, हानीबाल, पञ्चम चार्ल्स, तैमूर, महमूद गजनवी आदि दिग्विजयी वीर थे। आर्य साहित्यमेंभी दिग्विजयी वीर हैं। रघु, रामचन्द्र, पाण्डव, कर्ण आदि वीरोंका दिग्विजय क्या है? ये दिग्विजय केवल यज्ञपूर्तिके लिये ही हुए थे। रघुका दिग्विजय विश्वाजित् यज्ञके लिये और रामचन्द्र आदि-का अश्वमेधके लिये था। पाण्डवोंके दिग्विजय राजसूय, अश्वमेध यज्ञोंके लिये और कर्णके दिग्विजय दुर्योधनके राजसूय यज्ञके लिये थे। उन्होंने केवल लोभमें पड़कर पृथ्वीपर रक्तगङ्गा नहीं बहाई थी। ये दिग्विजय केवल यज्ञमें दान देनेके निमित्त धन-संग्रह करनेके लिये ही हुए थे। पारमार्थिक उद्देश्यके लिये जो संग्रह होता है वह उतना निन्दनीय नहीं है।

ब्राह्मण और क्षत्रिय वीरत्व

बिना युद्धके पुरुषत्वकी प्रतिष्ठा और विजय नहीं होती; और बिना विजयी हुए वीरताका विकास नहीं होता। युवावस्थामें जब मानसिक शत्रुओंका घोर उत्पात उठ खड़ा होता था तब जितेन्द्रिय और आत्मसंयमी आर्य उन शत्रुओंपर संग्राममें तपोबलसे एकनिष्ठ और एकचित्त होकर विजयी होते थे और उस विजयसे उनकी आभ्यान्तरिक वीरता प्रकट होती थी। तपस्यासे इस प्रकार जय लाभकर वे ब्राह्मण वीरता दिखाते हुए देवत्व लाभ करते थे। वेदाध्ययन, दम, आर्जव, इन्द्रियनिग्रह, और सत्य ये ही ब्राह्मणके नित्य धर्म थे। साम वेदमें अन्तर्यज्ञका अनुष्ठान करते हुए नारायणके उद्देश्यसे पशुरूप शत्रुओंके बलिदानकी व्यवस्था की गई है। इसी प्रकारके अन्तर्याग और आभ्यन्तारिक समरमें विजयी बननेसे ब्राह्मणोंकी वीरता प्रकट होती थी। कहाँ तो रामचन्द्र राजमुकुट धारण करनेवाले थे और कहाँ आज्ञा हुई कि वनवास करो! राजैश्वर्य और राजभोगसे रामचन्द्र इतने निस्पृह थे कि तत्क्षण दण्डधारी और ब्रह्मचारी बनकर वन चले गये। उन्होंने चौदह वर्ष एकनिष्ठ ब्रह्मचारी बनकर ब्राह्मण वीरत्वका चूड़ान्त परिचय दिया था। यौवनका कोई शत्रु, कोई सुखभोग उन्हें एक दिनके लिये भी विचलित न कर सका। ब्रह्मचर्य्य देखना हो तो भीष्मको देखिये। बल और विक्रममें अद्वितीय भीष्मदेवने यावज्जीवन संयमी होकर ब्रह्मचर्य व्रतका पालन किया। चिरकुमार शुकदेवके ब्रह्मचर्य व्रतमें अमानुषिक संयम-बल देख पड़ता है। सनकादि हजारों ब्राह्मणोंका

जो ब्रह्मचर्य शास्त्रोंमें लिखा हुआ है वह बहुतसे क्षत्रिय वीरोंमें भी देखा जाता है। पुरुष ही तक नहीं, बहुतसी हिन्दू बाल-विधवाएँ भी ब्रह्मचर्यावलम्बनपूर्वक महाश्वेताके समान भगवान्‌को आत्मसमर्पण कर चुकी हैं। यही संयमबल पुरुषत्व और हिन्दू ललनाओंकी महाशक्ति है। रामचन्द्र अपने पौरुष और क्षत्रिय वीर्यको जानते थे, इसीसे वे सीताके साथ बहुत दिनोंतक बनवास करनेमें समर्थ हुए थे। ब्रह्मचर्य व्रत धारण करनेमें जो धैर्य, संयम और सहिष्णुता आवश्यक है उसके होने और सीताकी रक्षा करनेमें समर्थ होनेके कारण ही वे बनमें जानेको उद्यत हुए थे। इसी बनवाससे आभ्यन्तारिक बल और क्षत्रिय वीर्यका परिचय मिला था।

रामचन्द्रमें केवल ब्राह्मणत्वका ही विकाश नहीं था। वे क्षत्रिय वीरतामें भी प्रधान थे। आभ्यन्तारिक शत्रुओंका शासन और दमन करनेमें जैसे ब्राह्मण वीरत्व है वैसे ही बाह्य शत्रुओंके शासन और दमनमें क्षत्रिय वीरत्व है। जब मानसिक शत्रु प्रबल मूर्ति धारण कर रावण और दुर्योधन आदिके रूपमें प्रकट होते हैं और पृथ्वीको पीड़ित कर उस-पर भार डालते हैं तब उन्हें समरमें परास्त कर विजयी बनना क्षत्रिय वीरत्व है। शत्रुओंके साथ युद्ध करना पार्थिवोंका बाहरी समर है। आर्य कवियोंने इसी प्रकारके समरका विस्तृत वर्णन रामायण और महाभारतमें किया है। रामचन्द्र-ने अपने पुरुषत्वकी रक्षा और भूभार हरनेके लिये रावणके साथ घोर युद्ध किया था और उस युद्धमें विजयी होकर रावणका वध किया था। इस प्रकार उन्होंने अपने पुरुषत्वकी

प्रतिष्ठा की थी। आज भी संसार उनके पौरुष और वीरताका यशोगान कर रहा है।

रामचन्द्रमें हम ब्राह्मण और क्षत्रियकी वीरता साथही साथ देखते हैं। रामकी शिक्षा, विद्या और तपस्याने ही उन्हें दोनों प्रकारकी वीरताओंसे विभूषित किया था। वे जैसे धीर, शान्त-प्रकृति, स्थिरचित्त और विद्याबुद्धि-सम्पन्न थे, वैसे ही उद्योगी, साहसी, कर्मठ और वीर थे। उन्होंने पितामें जो धर्मपरायण-ता और सत्यता देखी थी और वशिष्ठ आदि ऋषि उन्हें संयम-की जो शिक्षा देते थे, उन्होंने उसी दृष्टान्त और शिक्षासे विनीत होकर ब्राह्मण वीरताकी योग्यता प्राप्त की थी। असीम बल-विक्रम होने और धनुर्विद्या जाननेके कारण वे क्षत्रिय वीरोंमें प्रधान हुए थे। प्राचीन कालमें आर्य क्षत्रिय राजवंशमें दोनों ही प्रकारकी शिक्षा दी जाती थी। इसीसे आर्य साहित्यमें केवल रामचन्द्र ही नहीं, अनेक राजर्षि विद्यमान हैं। तपोधनी नारदने सञ्जयको पुत्र-शोकसे कातर देखकर उन राजार्षियोंके चरित्रका वर्णन किया था।

जैसे बहुतसे क्षत्रिय राजा ब्राह्मण वीरतामें कृतकार्य हो-कर राजर्षि कहलाते थे, वैसे ही परशुराम, द्रोण ऐसे बहुतसे ब्राह्मण क्षत्रिय वीर्य धारणकर यशस्वी वीर हुए थे। भीष्मने कहा था कि महाराज मुचुकुन्द ब्राह्मणके मन्त्र और तपोबल तथा क्षत्रियके अस्त्र और भुजबलको एक साथ रखकर प्रजा-पालन करते हैं। महर्षि वाशिष्ठके ब्रह्मबलका अवलम्बन करके वे अपने बाहुबलसे निर्जित वसुन्धराका शासन करते थे। वस्तुतः उस समय भारतमें जो हिन्दू राजा राजछत्र धारण

करता था उसे दोनों प्रकारके बलसे बली होना पड़ता था। सनत्कुमारने कहा था कि जैसे अग्नि और पवनका संयोग होनेसे सारा वन जल जाता है वैसे ही यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर मिल जायँ तो सारे शत्रु नष्ट हो जायँ। रामचन्द्रमें यही राजादर्श दिखाया गया है। क्या यूरोपमें ऐसा आदर्श है? रोमके किसी राजाने सिंहासन छोड़कर सरल जीवन बिताया था, पर रामचन्द्रके समान राज्याभिषेक होनेके समय नहीं। रामके संयम और तपोबलके साथ उसकी तुलना हो ही नहीं सकती।

वीरतामें समर और रक्तपात।

ब्राह्मण वीरता, क्षत्रिय वीरता या आसुरिक वीरतामें, वीरताके अधिकांश स्थानोंमें, रक्तपात अवश्य है। ब्राह्मण वीरता पानेके लिये कर्तव्यने किसी किसी स्थानपर बड़ा भारी संग्राम खड़ा कर दिया है और उसमें रक्तपात भी हुआ है। तपस्यामें कर्तव्य-बुद्धिका बल और विक्रम देखा जाता है। इसी कर्तव्य-पालनमें तत्पर होकर शिविने बाजके मुखसे कबूतरको बचानेका उपाय किया था। उनका तपोबल, कर्तव्य-बुद्धि और धर्मतेज कितना प्रबल था, यह इस कथामें विशद भावसे वर्णित है। जब हम शिविका चरित्र पढ़ते हैं तब हम यह नहीं सोचते कि यह झूठा है या सच्चा; केवल उनकी आत्मबलि, तपस्या, कर्तव्य-बुद्धि और धर्म बल ही देखते हैं। इसीसे हमारी कल्पना पूर्ण हो जाती है, विचारशक्ति भूल जाती है। उस कल्पनामें शिविचरित्रके धर्म-तेजका महत्व सदा जाग्रत रहता

है । काव्य-कल्पनाके ऐसे ऐन्द्रजालिक प्रभावका अनुभव यूरोपीय कवि नहीं कर सकते । आर्य चरित्रमें धर्मतेज कितना उच्च हो सकता है, आर्य वीरता किस सीमातक पहुँच सकती है, इसकी कल्पना तक विलायती कवि नहीं कर सकते। इसीसे शेक्सपियर उत्तम दृष्टान्त पाकर भी इतनी महत्ताको नहीं पहुँच सके । इसीसे बाज रूपी शाइलाकने सेरभर मांस माँगा तो कवि रक्तपात नहीं करा सके । ऐसा क्यों नहीं किया ? क्योंकि प्रारम्भमें वे काव्य कल्पनामें धर्मरागका समावेश नहीं करा सके । उन्होंने जो कल्पना की थी उसमें मांस काटा जाता तो भी आत्मबलि नहीं होता । इसीसे उन्होंने पोर्शियाको दूसरे रूपमें उपस्थित किया और रंगरहस्य करके रसपूर्ण काव्य-कल्पनाकी समाप्ति की ।

रक्तपात देखना हो तो परशुरामकी मातृहत्यामें देखिये । वे मातृहत्यामें क्यों प्रवृत्त हुए ? पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये । आर्य शास्त्रमें दो प्रकारका कर्तव्यादेश है— एक शास्त्रादेश और दूसरा गुरुजनादेश । जबतक शास्त्रज्ञानमें पैठ न हो तबतक गुरुजनोंका आदेश ही कर्तव्य समझना चाहिए। पिता-माताकी आज्ञाका अवश्य पालन करना चाहिए । परशुरामने ऐसा ही किया था । दाशरथि राम और पाण्डवोंने भी उसका पालन किया था। उसी पित्रादेशका महत्त्व दिखलानेके लिये परशुरामने मातृहत्या तक कर डाली ! वे ब्राह्मण तेजके अवतार थे । जैसे परशुराम ब्राह्मण तेजके अव-तार थे, वैसे राम क्षत्रिय तेजके अवतार थे । ब्राह्मण तेजकी वीरता आभ्यन्तरिक समरमें है और क्षत्रिय वीर्यकी प्रधानता

बाह्य समरमें है। इसीसे परशुराम बाहरी समरमें रामचन्द्रसे बिना युद्धके ही परास्त हो गये।

धर्मार्थ बलि

आर्य साहित्यमें व्यर्थका रक्तपात नहीं है। समस्त रक्तपात धर्मार्थ ही है। जो रक्तपात धर्मार्थ होता है वह देवकार्यके लिये ही होता है, इसीसे उसका नाम बलि है। इस बलिदान की पवित्रता शेक्सपियर तक समझते थे। उन्होंने ब्रूटसके मुखसे वह व्यक्त किया है। सीजरको मारनेके लिये लोभी कैसियस प्रभृति बड़े बड़े रोमन वीर दलबद्ध हुए थे। उन्होंने ब्रूटसको अपने दलमें मिला लिया। ब्रूटस उनकी मन्त्रणामें धर्मबलिके इस पवित्र भावका आरोप करता है—

"Our course will seem too bloody, Caius Cassius,
To cut the head off, and then hack the limbs;
Like wrath in death, and envy afterwards:
For Antony is but a limb of Cæsar,
Let us be sacrificers, but no butchers Caius.
We will stand up against the spirit of Cæsar;
And in the spirit of men there is no blood.

* * * *

Let us carve him as a dish fit for the Gods,
Not hew him as a carcass fit for hounds:
* * * This shall make
Our purpose necessary, and not envious:
Which so appearing to the common eyes,
We shall be called purgerers, not murderers.*

* इसका भावार्थ आगेके वर्णनसे ही स्पष्ट हो गया है। —अनुवादक।

ब्रूटस कहता है कि जो रक्तपात धर्मार्थ होता है वह आवश्यक है क्योंकि वह विद्वेषकृत नहीं है। इसका प्रशस्त दृष्टान्त कुरुक्षेत्रका महायुद्ध है। पीछे अनावश्यक रक्तपात होगा, इसलिये क्या पाण्डव, क्या भीष्मादि कौरव, दोनोंने ही बहुत चेष्टा की थी, किन्तु सब कुछ विफल हो गया। बिना युद्धके दुर्योधन सूईकी नांकके बराबर भी जमीन देनेको राजी न हुआ। अन्तमें युद्ध आवश्यक हुआ।

कुरुक्षेत्रमें युद्ध हुआ था। किन्तु शेक्सपियरके नाटकमें युद्ध हुआ था या सीजरको मारना अत्यावश्यक हुआ था? जब उसके मानरेके लिये कैसियस प्रभृति कितने ही लोगोंने मन्त्रणा की थी और दृढ़प्रतिज्ञ हुए थे तब वे पहले किस प्रवृत्तिसे उत्तेजित हुए थे? ब्रूटसने ही कहा था कि हमारे कार्यमें क्रोध और हिंसाका भाव नहीं रहना चाहिए। इसीसे उसने उसपर धर्मका परदा डालकर क्रोध और हिंसाको छिपाना चाहा था। उसने कहा—लोग यह समझें कि हमने सीजरको धर्मार्थ बलि दिया है, उनकी हत्या नहीं की है। स्वदेशके हितके लिये ब्रूटसकी प्रवृत्तिको उत्तेजित किया जाय, किन्तु कैसियसका उद्योग कैसा था? कैसियस आदि प्रधान व्यक्तियोंने हिंसा और लोभके वशवर्ती होकर जब पहले संकल्प किया था, ब्रूटस उस समय कहाँ था? कैसियसने समझ लिया था कि ब्रूटस चाहे जैसे हम लोगोंका साथ दे, उससे कुछ होता जाता नहीं; सीजर तो मारा जायगा न! कापुरुषके समान उन्होंने कसाई बनकर सीजरका खून कर डाला। इस प्रकार हत्या न करके किस प्रकार स्वदेशका

हितसाधन होगा, ब्रूटसने एक क्षण भी इसपर विचार नहीं किया था। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि सीजरकी हत्याके बिना काम नहीं चल सकता था और उसकी हत्या व्यर्थ नहीं हुई थी?

यहीं पर ग्रीक ट्रेजेडीकी उत्पत्तिके कारणका सूत्रपात होता है। धर्मार्थ बलिके आधार पर ग्रीक ट्रेजेडीकी उत्पत्ति हुई। एसकाइलस और यूरिपाइडिसकी कुछ ट्रेजेडियाँ इसी ढंगकी हैं। वे समझते थे कि धर्मार्थ बलि देनेसे धर्मका गौरव होगा। आर्य साहित्यमें भी धर्मार्थ बलि न हो, ऐसी बात नहीं है। कर्ण और शिवि अतिथि-सत्कारके लिये अपने पुत्रका बलि देनेमें भी कातर नहीं हुए थे। राजा मयूरध्वजने अतिथि सत्कारके लिये अपना दाहिना अङ्ग काट डाला था। हमारे पौराणिक साहित्यके इस प्रकारके रक्तपति और धर्मबलि मायिक व्यापार मात्र समझे जाते हैं। इनमें दिये हुए धर्मबालिके व्यक्तियोंका पुनर्ज्जीवन हुआ था। पौराणिकोंने एक समय धर्मके गौरव और भगवान्‌के प्रति भक्तिकी वृद्धि होनेके लिये इस प्रकारके अलौकिक व्यापारोंका उद्भावन किया था। इनके द्वारा भक्तों-की भक्तिकी परीक्षा और भगवान्‌के माहात्म्यका प्रकाश हुआ था। पुराणोंमें इस प्रकारके व्यापारोंके लिये स्थान हो सकता है। किन्तु ग्रीक ट्रेजेडीमें तो धर्मबालिका पुनर्जीवन हो नहीं सकता। यदि ऐसा किया जाय तो ट्रेजडीका नाम ही मिट जायगा। उसके अन्तमें निर्दय रक्तपात चाहिए। इस प्रकारके रक्तपातसे शरीर काँप उठता है या धर्म-गौरवसे पुलकित होता है? ट्रेजेडीके सूत्रपातका कुछ भी कारण क्यों

न हो, यूरोपमें वह क्रमशः किस प्रकार दूषित हुआ था, यह पहले प्रस्तावमें दिखाया जा चुका है ।

वीरका प्रतिज्ञा-बल

आर्य अपनी धर्मरक्षाके लिये जिसे कर्तव्य समझते थे, दृढ़प्रतिज्ञ होकर उस संकल्पकी सिद्धि करते थे । मनुष्यत्वका इस प्रकार निदर्शन ब्राह्मण और क्षत्रियके प्रतिज्ञा-बलसे होता था । आर्य साहित्यमें ऐसे मनुष्यत्वके कार्यके अनेक दृष्टान्त विद्यमान हैं । प्रतिज्ञापालन ही मनुष्यका मनुष्यत्व और वीरोंका वीरत्व है । ब्राह्मण कर्तव्यपालनसे कभी पराङ्मुख नहीं होते थे । परशुराम पितृभक्तिसे प्रेरित होकर पितृवधके प्रतिशोधके लिये जिस प्रतिज्ञा-पाशमें बँधे हुए थे, उस प्रतिज्ञाका पालन कर क्षत्रिय रुधिरसे उन्होंने पिताका तर्पण किया था । हम ब्राह्मणके प्रतिज्ञाबलका महातेज परशुराममें पाते हैं । प्रतिज्ञा करनेसे क्या नहीं होता ? सीताके उद्धारके लिये रामचन्द्रने प्रतिज्ञा कर कौनसा असाध्य साधन नहीं किया था ? भीष्मने पिताके सन्तोषके वास्ते दृढ़प्रतिज्ञ होकर सदाके लिये भोगसुख और राजसिंहासन छोड़कर ब्रह्मचर्यका पालन किया था । कर्णने अर्जुन-बधकी जो प्रतिज्ञा की थी उससे पाण्डव काँप उठे थे । कर्ण उस कठिन प्रतिज्ञापर आरूढ़ होकर ब्रह्मास्त्रके लिये द्रोणसे अपमानित हुए थे और महेन्द्र पर्वत पर परशुरामके पास गये थे । वहाँ उन्होंने पूर्ण अध्यवसायसे उनकी सेवा-शुश्रूषा करके बड़े कष्टसे वह परमास्त्र प्राप्त किया था । इधर कर्णवधकी प्रतिज्ञा करके अर्जुन भी स्वर्गलोक और

मर्त्यलोकमें घूम घामकर अस्त्रविद्यामें पारदर्शी हो आये थे। अभिमन्यु-वधके उपरान्त सूर्यास्त होनेके पहले ही जयद्रथ-वधके लिये अर्जुनने जो भयङ्कर प्रतिज्ञा की थी, उसे सुनकर कृष्णतक काँप उठे थे। उस भीषण प्रतिज्ञाके कारण कुरुशिविरमें घोर रणके लिये बहुत बड़ा आयोजन हुआ था। दुःशासनका रुधिर पीनेमें भीमका प्रतिज्ञाबल प्रकट होता है। धृष्टद्युम्नकी प्रतिज्ञासे द्रोणका पतन हुआ। द्रोणके पतनसे अश्वत्थामाकी प्रतिज्ञा पूरी हुई। किस प्रकारके बीभत्स व्यापारसे पाञ्चालोंको मारकर अश्वत्थामाने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की थी, इसका वर्णन महाभारतमें दिया हुआ है। प्रतिज्ञाबद्ध हंसध्वजने अपने पुत्र सुधन्वाको गरम तेलमें डाल दिया था। यद्यपि इन प्रतिज्ञाओंमें रक्तपात हुआ था, तथापि मानुषी प्रतिज्ञा किस प्रकार बलवती होती है, यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। वीरकी उस प्रतिज्ञाका प्रभाव जबतक रहता है तबतक देश सुरक्षित रहता है। क्षत्रियके प्रतिज्ञाबलसे पहले भारत काँप उठता था। वह प्रतिज्ञाबल आज नहीं है—भारत भी पहलेका नहीं रहा। फिर भी कहते हैं कि इसी प्रतिज्ञा-बलसे मनुष्यका मनुष्यत्व और वीरोंका वीरत्व है।

बिना रक्तपातके वीरोंका सत्य-पालन।

सत्य-पालनमें भी इसी प्रतिज्ञाका प्रभाव रहता है। जब रामचन्द्रको बनवास हुआ था तब उन्होंने जो प्रतिज्ञा की थी, उससे कभी किसीने उनको विचलित किया था? पिताकी आज्ञाका पालन ही उनके लिये धर्म था। उस धर्मसे उनकी माता, स्त्री, भाई, बन्धु, बान्धव, कुलगुरु आदिमेंसे कोई

उन्हें विचलित न कर सका। भरतने जाकर लौटनेके लिये उनसे बहुत ही अनुनय-विनय किया, पर उसका कोई फल न हुआ। रामने अपना व्रत किसी प्रकार भङ्ग नहीं किया। धर्मज्ञानने ही उन्हें इस व्रतको धारण करनेके लिये उत्तेजित किया था। उसी धर्मज्ञानसे उन्होंने राजमुकुट और राजभोगको एक क्षणमें छोड़कर वनवास लिया। राजभोगका सुख उन्होंने बहुत तुच्छ समझा। उनके हृदयमें इतना बल था, इतनी निस्पृहता थी कि जिससे उन्होंने चौदह वर्षके लिये सारे सुख, सारे लोभ और सारी लालसाको झट छोड़ दिया। सत्य-पालनके लिये ऐसी ही प्रतिज्ञा चाहिए। यदि हृदयका बल देखना चाहते हैं तो सीताके निर्वासनके समय देखिये। जो प्रजापालन करता है, उस क्षत्रिय राजाको अपनी वासना चरितार्थ करनेकी क्या आवश्यकता है? जान पड़ता है कि उसके लिये उसे सारे सुखोंको जलाञ्जलि देनी होती है। इसीसे रामचन्द्रने उस प्रेममयी सीताको भी वनवास दे दिया। जिस सत्य-पालनमें दृढ़व्रत होकर राजा दशरथने रामचन्द्रको वनवास दिया था और ऐसा करके मृत्युकी शरण ली थी, आज रामने भी उसीके कारण राजधर्ममें दृढ़प्रतिज्ञ होकर सीताको वनवास दे दिया और आप मृतप्राय होकर रहे। दशरथने अपनी पत्नीको ही वचन दिया था। यदि वे चाहते तो उसे तोड़ सकते थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया।

सत्यपालन बड़ा ही कठिन काम है। स्त्रीके निकट सत्य हो या किसी दूसरेके ही निकट, उसका पालन सत्यव्रतियोंके लिये आवश्यक है, क्योंकि सत्य ही उनका जीवन है। ऐसे ही

सामान्य कारणको लेकर युधिष्ठिरका सत्यपालन देख पड़ता है। वे सामान्य जूएमें सारा राज्य, सारा ऐश्वर्य, सारा संसार यहाँतक कि धर्मपत्नी भी हार गये। अन्तमें उन्होंने चौदह वर्षके वनवासका प्रण किया। इस प्रणमें भी वे हार गये। वे सब कुछ छोड़कर वनवासी बन गये। किस लिये? सत्य-प्रणके लिये, चाहे वह किसी बातके लिये क्यों न हो। जब धर्मपुत्र युधिष्ठिरने एक बार सत्य प्रण कर दिया तब उससे उनको कौन डिगा सकता था? सारा संसार भी ऐसा नहीं कर सकता था। जिस आन्तरिक युद्धमें रामचन्द्र विजयी हुए थे, उस आन्तरिक युद्धके तुमुल काण्डका प्रकाश करनेके लिये ही व्यासने मानों द्रौपदीकी दुर्दशाकी कल्पना की है। उसी दुर्दशाके सामने युधिष्ठिर स्थिर बैठे हैं। एक ओर उनका सत्य और दूसरी ओर सारे संसारके विरुद्ध बल। युधिष्ठिरके हृदयमें घोर युद्ध आरम्भ है, तथापि युधिष्ठिर अचल और अटल हैं। इसी युद्धमें स्थिर होनेके कारण उनका युधिष्ठिर नाम सार्थक हुआ था। उनके हृदयमें सत्यकी विजय हुई। शत्रु-सभामें युधिष्ठिरकी परीक्षा हुई। युधिष्ठिरने विजयी होकर संसारमें सत्यपालनकी जयघोषणा कर दी।

रक्तपातके बिना ब्राह्मणका प्रतिज्ञा-पालन

गुरुदक्षिणा लानेके लिये ब्राह्मणको कठिन कष्ट उठाकर प्रतिज्ञा-पालन करना पड़ता था। ब्रह्मचर्य धारण करके विद्याध्ययन करनेके समय शिष्यके हृदयमें कितना धैर्य, कितना संयम, कितनी तितिक्षा आदि बद्धमूल हुई हैं, इसकी परीक्षाके

लिये पहले गुरु कठिन गुरुदक्षिणा माँगते थे। तपोधन उतङ्क गुरुदक्षिणाके लिये महर्षि गौतमके आज्ञानुसार उनकी पत्नी अहल्याके पास गये। अहल्याने बिना जाने सुने एक असाध्य साधनमें उतङ्कको लगा दिया। अहल्याने सौदाम राजाकी पट-रानीके दोनों कर्ण-कुण्डल माँगे। उतङ्क इस बातको स्वीकार कर जिस विपत्तिमें पड़ा, उसकी कथा महाभारतका अश्वमेध पर्व पढ़नेवाले विशद रूपसे जानते हैं। बेचारा उतङ्क अपने तपोबलके प्रताप और महर्षि गौतमकी कृपासे वशिष्ठके शापसे राक्षस रूपधारिणी सौदामकी पटरानीके दोनों कुण्डल कठिनता-से प्राप्त करके गुरुगृहकी ओर आ रहा था। रास्तेमें दोनों कुण्डलोंको साँपने निगल लिया। उतङ्क मुनिके कष्टकी सीमा न रही। तथापि वे घबराये नहीं। उन्होंने नागलोकसे दोनों कुण्डल लाकर अहल्याको समर्पित किये। उन्होंने तपके प्रभाव-से जो आन्तरिक बल और वीर्य लाभ किया था, उसीसे इस कठिन कार्यमें वे सफल-मनोरथ हुए। आर्य साहित्यमें गुरु-दक्षिणा लानेके लिये इस प्रकारके तपोबलकी वीरताके दृष्टान्त बहुत हैं।

महाकाव्यकी वीरता

आर्य साहित्य सब प्रकारकी वीरताके आदर्शोंसे परिपूर्ण है। महाभारत और रामायणको ही लीजिये। उनके समस्त चित्रोंको यदि चित्रित किया जाय तो रामायण और महा-भारतसे भी विशाल एक एक ग्रन्थ बन जायगा। उनकी व्याख्या इस क्षुद्र पुस्तकमें कहाँ हो सकती है! महाभारत ही

वीर रससे लबालब भरा है। आर्य साहित्यमें जिस प्रकार प्रेमकी मधुरता है, उसी प्रकार वीरताकी भी तेजस्विता है। प्रेमकी नदी सरस्वतीके समान शान्त रूपसे बहती है और वीरताकी तरङ्गिणी ब्रह्मपुत्रकी धाराके समान गरजती हुई बहती है। भवभूति और कालिदासमें सुन्दर प्रेमकी लहरें लहराती हैं। वाल्मीकि और व्यासमें वीरताका प्रवाह बड़े वेगसे होता है— वीर रसकी उत्ताल तरङ्गें उठती हैं। कुरुक्षेत्रके महासमरमें वीर रसकी उन्मत्तता देख पड़ती है। व्यासने बड़ी ओजस्विनी भाषामें जिस वीर रसकी धारा बहाई है, उसने समग्र भारतको अपनेमें मिला लिया है।

त्रिविध वीरता

हमने प्रेमकी जो त्रिविध गति दिखाई है वह वीरतामें भी है। मनुष्यमें कभी पशुकीसी उन्मत्तता और वीरता देख पड़ती है, कभी उसकी वीरता देवताकीसी होती है और कभी उस वीरतामें मनुष्यत्वका विकाश पाया जाता है। जब मनुष्यके शत्रु अत्यन्त प्रबल हो जाते हैं, उसका लोभ पृथ्वीको भी ग्रास करनेके लिये उद्यत होता है, उसका काम निष्कलङ्क सतीको भी कलङ्कित करने पर उतारू होता है, उसके दर्पसे पृथ्वी भी कम्पित होती है, उसके रोषसे दशो दिशाएँ जलती हैं और उसके क्रोधकी तलवार पृथ्वीको रक्तसे डुबा देती है, तभी मनुष्यकी पशुवत् वीरता प्रकट होती है। और जब मनुष्य उच्च गुणोंसे वीर होता है, जब विश्वप्रेम और दयासे दानवीर होता है, जब बलिके समान सारी पृथ्वीको भी दान करके सन्तुष्ट नहीं होता, जब रघुके समान मुक्त हस्तसे कुबेर भाण्डारके समान

अपने भाण्डारका वितरण करता है, जब युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञके तुल्य दान, धर्म और दयाकी पराकाष्ठा दिखाता है, जब द्रौपदीके समान क्षमागुणसे भूषित होकर पाँच पुत्रोंके मारने-वाले अश्वत्थामा ऐसे अपराधीको क्षमा करता है, जब अपने आश्रित पर शिविके समान दया दिखाता है और अपने शरीर-की भी उपेक्षा करता है, जब भीष्मके समान अपने चिरजीवन-को ब्रह्मचर्य व्रतमें निरत रखता है, जब स्वधर्म-ज्ञानसे उदार बनकर दुर्योधनके समान अपने शत्रुको भी इच्छित वस्तु देनेमें आगापीछा नहीं करता और जब कर्णके समान अपना जीवन-सर्वस्व दे सकता है, तभी मनुष्यमें देवोचित वीरताका प्रकाश होता है। जब मनुष्य सत्यपालनमें प्रतिज्ञारूढ़ होता है, जब स्वधर्म, कुल, मान और मर्यादाकी रक्षाके लिये शत्रुकुलका ध्वंस करता है, जब धर्मार्थ पृथ्वीका भार मोचन किया जाता है, ब्राह्मणोंकी आश्रम-पीड़ा छुड़ानेके लिये दैत्योंका संहार किया जाता है, प्रजारञ्जनके निमित्त प्रिय पत्नीको भी छोड़नेमें सङ्कोच नहीं किया जाता, युद्धार्थ चाहे कोई क्यों न उपस्थित हो, अपने धर्मके नियमानुसार युद्धदान दिया जाता है, जब स्वधर्मानुसार स्वदेश और स्वराज्य-रक्षाके लिये बभ्रुवाहनके समान पिताके साथ भी घोर संग्राम होता है और जब कर्तव्य और स्वधर्मरक्षाका गौरव वीरताका आश्रय लेता है, तब मनुष्योचित वीरताका विकाश होता है। यूरोपमें स्वधर्म और स्वदेशरक्षाके लिये उद्यत Martyr और Patriot इस प्रकारकी मनुष्यो-चित वीरताके उज्ज्वल दृष्टान्त हैं। वे यूरोपीय साहित्यके गौरव हैं।

आर्य वीरकी विशेषता

किन्तु यूरोपीय वीरोंके साथ आर्य वीरोंकी विशेषता कहाँ है? व्यासने एक स्थानपर इसका विशद वर्णन किया है। हमने यूरोपीय इतिहासमें गृह युद्धका बहुत वर्णन पढ़ा है। किन्तु किसी युद्धमें अर्जुनके समान समरके समय हृदय-वेदनासे अस्त्र शस्त्र छोड़कर विमुख होते हुए किसी वीरको नहीं देखा। अर्जुनने युद्धमें आकर देखा कि सामने भीष्म, द्रोण आदि गुरुजन विद्यमान हैं। अर्जुनकी श्रद्धा, भक्ति आदि प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठीं उन्होंने फिर देखा कि वे सबके सब युद्धके लिये प्रस्तुत हैं। क्षात्रियका यह धर्म है कि जो युद्धके लिये सामने आवे उसीके साथ युद्ध करे। इससे अर्जुनके हृदयमें घोर संग्राम उठ खड़ा हुआ। बाहरी युद्धमें प्रवृत्त होनेके पहले भीतरी युद्ध में विजय लाभ करना पड़ता है। ऐसी उन्मत्तताके समय पृथ्वीके किस वीरके हृदयमें ऐसी वेदना उठी होगी और वह भारी असमंजसमें पड़ गया होगा? इस घटनासे क्या ज़ान पड़ता है? क्या इस घटनासे यह बात स्पष्ट नहीं होती कि पहले आर्य वीर कैसी उच्च शिक्षासे शिक्षित होते थे? क्या वे केवल बहरी युद्धके लिये शिक्षित होते थे? उनका आभ्यन्तरिक तपोबल कहाँसे आता था? वे किस बलसे जितेन्द्रिय, होते थे? भुजबल की वृद्धिके साथ उनके प्रेम, भक्ति और श्रद्धाका अनुशीलन भी बढ़ता था। बाहरी शत्रुओंको परास्त करनेके लिये वे जिस युद्धविद्यामें पारङ्गत होते थे उसीके साथ हृदयशत्रु और पाप-प्रवृत्तियोंका भी विजय करना सीखते थे। अस्त्रबल और युद्धकौशलसे वे जैसे असुरोंका संहार करना सीखते थे, वैसे शम, दम आदिसे

आन्तरिक पशुबलको भी दबाते थे। जो वीर ऐसे विविध युद्धोंमें विजयी होते हैं वेही सच्चे वीरोंमें गिने जानेके योग्य होते हैं। यदि ऐसा नहीं हुआ, जिसके भीतर शत्रु ज्योंके त्यों बने रहे, तो उनके बाहरी शत्रुओंपर विजय पानेका फल क्या हुआ ? उनके लिये सुख और शान्ति कहाँ ? सारी पृथ्वी भी यदि उनके हाथमें हो तो भी वे दुःखी ही बने रहेंगे, पृथ्वीमें उन्हें शान्ति नहीं मिल सकती।

वीरोंकी सम्पत्ति

हृदय-समरमें विजयी बनकर जिन्होंने भीतर शान्ति-स्थापन किया है उन्हींके अधीन पृथ्वी है। वे और कुछ नहीं चाहते। राजसिंहासन, कुबेरका भाण्डार, सब कुछ उन्होंने पा लिया है। उनके निस्पृह हृदयको मोहने और लुभानेवाली कोई चीज नहीं है। भरतने राजासिंहासन पाकर भी उसे तुच्छ समझा था। बड़े कष्टसे कुरुक्षेत्रमें विजय प्राप्त करके भी युधिष्ठिर राजसिंहासन पर नहीं बैठे। व्यासने युधिष्ठिर-को वैराग्य सिखाकर और अन्य पाण्डव वीरोंको ज्ञानका उपदेश देकर यह विश्वाश दिला दिया था कि आप लोगोंने ज्ञान-बलसे हृदयके शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है। आप चाहें तो भोग-सुखसे विलग होकर भी संसार और राजधर्म निबाह सकते हैं। भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, द्रौपदी सभीके मुख-से उसी ज्ञानबलका विक्रम प्रकट होता था। जो व्यास और श्रीकृष्णकी शक्ति है, जो नारदादि ऋषियोंका महातपोबल है, वही ज्ञानप्रभाव पाण्डवोंकी बातोंसे भी प्रकाशित हुआ था।

जिन्होंने इस समय उस शक्तिके प्रभावसे इन्द्रिय-विजयी होकर अपने तपोबलसे हृदय और मनको पूर्ण रूपसे वश करके जीवन-को सार्थक किया है, उन्हें पार्थिव सैन्य-बल और भुजबलकी कमी नहीं होती। क्षणभरमें वे हजारों सेनापति संग्रह कर सकते हैं। विश्वामित्र और वशिष्ठकी आज्ञासे सैकड़ों सेनाएँ लड़ाईके मैदानमें आ डटीं। ऋषियोंमें घोर युद्ध ठना। किन्तु विश्वामित्र तब भी वशिष्ठके समान शक्तिशाली नहीं हुए। अन्तमें विश्वामित्रकी हार हुई। इसके बाद विश्वामित्र ब्रह्मर्षि होनेके लिये दृढ़प्रतिज्ञ होकर तपस्या करने लगे। ब्राह्मण्य लाभ कर विश्वामित्रने ज्ञान-बलसे ब्रह्मत्व लाभ किया।

आदर्श राज्य

जिस वीरका युद्धमें शरीरपात होता है उसे स्वर्ग मिलता है, यह आर्योंका विश्वास है। इसीसे दुर्योधनने मरनेके समय पाण्डवोंको लक्ष्यकर कृष्णसे कहा था कि हम अपने भाइयों और बन्धु-बान्धवोंके साथ स्वर्ग चले। तुम सब शोकाकुल होकर इस पृथ्वीपर बने रहो। किन्तु दुर्योधनको यह विदित नहीं था कि श्रीकृष्ण और पाँचों पाण्डवोंने इस पृथ्वीपर ही स्वर्गकी सृष्टि की है। वे स्वर्गके लिये लालायित नहीं हैं। स्वर्गकी अपेक्षा भी जो उच्च ब्रह्मपद है, उसके लिये वे प्रयत्नशील हैं। महात्मा मुद्गल मुनिने स्वर्गीय विमानको तुच्छ समझकर जिस ज्योतिर्मय ब्रह्मपदकी प्राप्तिकी लालसासे शम गुणके साथ ज्ञान-योगका अवलम्बन किया था, उसी ज्ञानके लिये युधिष्ठिर आदि इस पृथ्वीपर थे। वे अभी तक राजार्षिके योग्य नहीं

हुए थे। अब भी जनकके समान भगवत्-प्रेममें सारे संसार-का सुख विसर्जित करके उन्होंने सिद्धि-लाभ नहीं किया था। इसीसे श्रीकृष्णने युधिष्ठिरके सामने समस्त राजर्षि-चरित-का चित्र अङ्कित किया था। भीष्मदेवने युधिष्ठिरको वही मार्ग दिखलाकर अपना शरीर छोड़ा। जिस निष्काम निवृत्ति पथ और विश्वप्रेमका उपदेश श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीकृष्णने दिया था वह आजतक पाण्डवोंको उपलब्ध नहीं हुआ था। अर्जुनने निष्काम भावसे कब युद्ध किया था? युद्ध-कालमें भीष्म, द्रोण आदिके विपक्षमें वैसा उद्योग तो नहीं किया था। राज्य पानेपर राम और जनकके समान क्या वे निर्लिप्त भावसे राजकार्यका सम्पादन कर सकते थे? यदि नहीं तो वे यथार्थ क्षत्रियके राजधर्ममें दीक्षित नहीं हुए। वे आज भी पृथ्वीपर राम-राज्य लानेमें समर्थ नहीं हो सके। क्षत्रिय राजा होकर भी वे विश्व-प्रेमका परिचय न दे सकते थे इस कारण वे राजमुकट धारणके योग्य पात्र नहीं हुए। विश्वप्रेमपूर्ण उस पार्थिव राज्यका चित्र वाल्मीकिने रामायणमें चित्रित किया है। वह दशरथका राज्य था—रामका राज्य था। आर्य वीर राजसिंहासनपर बैठकर जिस प्रेम-राज्यका विस्तार करेगा, उसीका राम-राज्यमें वर्णन किया गया है। उसी राज्यपर रहकर राम प्राणोपम सीता देवीको भी त्यागकर एकान्त मनसे प्रजा-रञ्जन करते थे। संसारके हितके लिये उन्होंने अपने इष्टको भी छोड़ दिया था। उस रामराज्यमें सभी स्वर्गका सुख भोगते थे। क्या वह रामराज्य फिर भी भारतमें स्थापित होगा?

साहित्यमें देवत्व।

सतीका आदर्श

हम पहले ही कह आये हैं कि आर्य कवियोंने अनेक आदर्शोंकी सृष्टि की है। नामके ही आदर्श नहीं, बड़े बड़े कामके आदर्श भी दिखलाये हैं। उन विशाल आदर्शोंने आर्यों-की कल्पनाको ऐसा पूर्ण कर रक्खा है कि उनके निकट सामान्य कवियोंके कल्पना-प्रसूत आदर्श ठहर ही नहीं सकते। तुम कितने ही प्रयत्नसे सतीकी प्रतिमा क्यों न गढ़ो, पर सीताकी स्वर्णमयी प्रतिमाके सामने वह अत्यन्त हीन ही प्रतीत होगी। कितना ही विशाल बनाकर सतीका चित्र क्यों न खींचो पर दमयन्तीके विशाल चित्रके सामने वह बड़ा ही क्षुद्र प्रतीत होगा। जैसे बड़े बड़े जहाजोंके सामने छोटी छोटी नौकाओंकी कोई गिनती नहीं, वैसे व्यास और वाल्मीकिके चित्रित आदर्श चरितोंके निकट सामान्य कल्पित चित्रोंकी भी हीनता होगी ही। भवभूति, श्रीहर्ष आदि आधुनिक कवियोंने व्यास और वाल्मीकिका पीछा करके उनके आदर्शोंको ही पुष्ट, वर्द्धित और अलंकृत किया है; उन्होंने किसी नये सती-चरित्रकी सृष्टि नहीं की है।

स्त्री-शिक्षा

स्वभावतः मानव प्रकृतिमें पशुताकी ही प्रधानता है। इस पशुत्वको नष्ट करना ही शिक्षाका प्रधान कार्य है। जिससे

पशुत्वकी प्रधानता नष्ट हो और मनुष्यत्व तथा देवत्वकी प्रधानता बढ़े, वही शिक्षा है । हिन्दू समाजमें वह शिक्षा पारिवारिक और सामाजिक रीति-नीतिके द्वारा ही अधिकतर सिद्ध होती है । स्त्री जातिको यदि उसके स्वभावाधीन कर दिया जाय तो उसकी प्रकृति कहाँ तक निन्दनीय हो सकती है, इसका वर्णन हमारे आर्य शास्त्रोंमें दिया हुआ है । किन्तु वही स्त्री जाति शिक्षाके प्रभावसे कैसे देवियोंकी गिनतीमें आ जाती है, इसका वर्णन भी हमारे आर्य शास्त्रोंमें है । मानव प्रकृति स्वभावतः इतनी मलिन होती है कि जबतक वह बाल्य कालसे ही परिष्कृत न की जाय तबतक उसमें प्रकृतिका सौन्दर्य झलकता ही नहीं । हिन्दूके घरमें बाल्यकालसे ही बालकों और बालिकाओंको शिक्षाव्रत ग्रहण करना पड़ता था । इस शिक्षा-व्रतमें बड़ी कठिन शासन-प्रणालीका विधान है । जैसे पिताके घरसे लेकर गुरुगृह तक बालकोंकी शिक्षा होती थी वैसे ही बालिकाओंको भी विनीत होनेकी शिक्षा पिताके घरसे लेकर श्वसुर गृह तक मिलती थी । वे तरुणावस्थामें ही सुशील होनेके लिये ससुराल भेज दी जाती थीं । जिस तरुणावस्थामें बालक गुरुगृहमें जाते थे उसी तरुणावस्थामें बालिकाएँ ससुरके घर जाती थीं । पिताके घरमें जिस शिक्षाका प्रारम्भ होता था उसकी परिपुष्टि तथा समाप्ति दूसरेके घरमें होती थी । गुरु जिस प्रकार तरलमति बालकोंको शासनमें रखकर उन्हें मनुष्य और गुणवान् बनाते हैं, उसी प्रकार ससुरालमें बालिकाओंके गुरुजन उन्हें शासनाधीन करके भावी जीवनके उपयुक्त बनाते हैं । दूसरेके

घरमें जैसा शासन सम्भव है, वैसा अपने घरमें न होनेके कारणही हिन्दुओंके घरमें ऐसी सामाजिक व्यवस्था है। उस समय इसी व्यवस्थासे बालक-बालिका सुशिक्षित होकर संसार-कार्यमें निपुण और सुखी होते थे। जब ये बालक-बालिकाएँ प्रौढ़ होकर संसाराश्रमकी अधिकारी होती थीं, तब उनके भी बालक-बालिकाएँ होती थीं और संसार-वृक्ष चारों ओर अपनी शाखा-प्रशाखाओंको फैलाता था और तब उनकी शिक्षाका प्रत्यक्ष फल देख पड़ता था और। वे किस प्रकार मनुष्य होकर अपने बालबच्चोंको मनुष्य बनानेमें समर्थ होते थे, सांसारिक कृत्योंका किस प्रकार निर्वाह करते थे, और प्रेम तथा स्नेहसे किस प्रकार सबको प्रसन्न और सन्तुष्ट रखते थे, इसका प्रत्यक्ष परिचय मिलता था।

संसाराश्रमें प्रवृत्तिका बड़ाही विस्तृत क्षेत्र है। प्रवृत्तिके इस विशाल क्षेत्रमें, जिन्होंने प्रवृत्तिकी घोर लहरोंमें अपनेको स्वतन्त्रतापूर्वक लहराने दिया है उनकी सांसारिक तरङ्गेंही खूब बढ़ती हैं; वे कालचक्रमें खूबही चक्कर लगाते हैं। प्रवृत्तिके स्रोतमें उनकी आत्मा सदा एक संसारसे दूसरे संसारमें घूमा करती है। जन्मजन्मान्तरमें उनकी आत्मा इसी प्रकार भरमती रहती है। संसारके सुख-दुःखही उनकी संभोग्य वस्तु और प्रधान सम्पत्ति हैं। वह सुख कितनाही क्यों न बढ़े, उसमें दुःखकी मात्रा ही अधिक रहती है। संसार "विषकुम्भ पयोमुख' है। इसी लिये हमारे ऋषियोंने इस संसारसे निवृत्त होनेके लिये ही मार्ग दिखलाये हैं। इस प्रवृत्ति-वेगको दबानेसेही संसारका गतिरोध होता है। क्या इस संसारका गतिरोध

सम्भव है ? जिन्होंने संसारके स्रोतमें गहरे गोते लगाये हैं, उनके लिये उस गतिका निरोध कभी सम्भव नहीं । जिसमें हम भी उस स्रोतमें बह न जायँ, इसके लिये तत्तुल्य ही अवलम्बन की, जिसके सहारे उसमें डूब न सकें, आवश्यकता है । जो लोग शिक्षाके प्रभावसे वैसा अवलम्बन पा सके हैं वे ही उस सांसारिक स्रोतके विरुद्ध खड़े हो सकते हैं । केवल वे ही यौवनकी उन्मत्ततापर अपना शासन रख सकते हैं, और शत्रुकुलको दबाकर संसारमें भगवान्‌की प्रतिष्ठा कर सकते हैं । इसी बलके लिये नारीके शिक्षाव्रत और सतीत्वकी सृष्टि है, इसी लिये गुरु-गृहमें शिष्यका शासन, वेदाध्ययन और संसाराश्रमके निवृत्तिपथमें ले जानेवाले शम, दम आदिकी आवश्यकता होती है । वेदाध्ययन और शास्त्रशिक्षा शिक्षाकार्यके केवल सहायक मात्र हैं । मनुष्योंको सच्चरित्र बनाना ही शिक्षाका प्रधान उद्देश्यं है ।

मैत्री

स्त्री-शिक्षाका चूड़ान्त फल सतियोंकी सृष्टि है । हिन्दू गृहमें इसकी अपेक्षा और कोई उच्च स्त्रीशिक्षा नहीं थी । दूसरी शिक्षाएँ यदि स्त्रियोंको दी जातीं तो बालक-शिक्षाके समाने उनका भी भली भाँति विवेचन होता । पर उनका विवेचन हमारे धर्मशास्त्रमें विशेष रूपसे नहीं है । यदि स्त्रियोंको और शिक्षाएँ देना अभीष्ट होता तो मनुने गुरु-गृहकी शिक्षा प्रणालीको जैसे विधिबद्ध किया है, वैसे स्त्री-शिक्षाको भी विधिबद्ध करते । अयोध्यामें हम सीताको सतीत्व गौरवसे पूर्ण पाते हैं । किन्तु उस

सीताने जनकके घरमें किस शिक्षाके प्रभावसे ऐसा सतीत्व-गौरव प्राप्त किया था, इसका वर्णन कहीं नहीं मिलता। सीताने अपने पिताके घर राजर्षि जनककी सांसारिक व्यवस्था देखकर ही वैसी शिक्षा पाई थी, यह निश्चय रूपसे कहा जा सकता है। वहाँ सीताको सुशीला सतियोंका दृष्टान्त अवश्य दिखाई पड़ता था। व्रत, नियम और पातिव्रत्यमें संयमकी शिक्षा अवश्य होती थी, और लड़कपनसे भक्तिवृत्तिको भी उत्तेजना अवश्य दी जाती थी। इसी भक्तिसे स्त्री अपने पतिको अपना जीवन-सर्वस्व समझती है। जो स्त्री भक्तिभावसे एकनिष्ठ, निःस्वार्थ और निराकांक्ष होकर पतिकी शुश्रूषा कर सकती है, वह उसी भावसे वैसी होकर देवताकी भी शुश्रूषा करेगी, इसमें आश्चर्य ही क्या है? जो लड़कपनसे ही गुरुजनोंका आदर और देवताओंकी भक्तिभावसे पूजा करती आती है उसके लिये पातिव्रत्य धर्म कठिन नहीं है। जो भक्ति-शिक्षा बाल्यकालसे ही दी जाती है, उसकी परिपुष्टि व वृद्धिके साथ ही होती जाती है। अनुराग और प्रेमका प्रसार भाई-बहनोंमें इसी प्रकार होकर दिनादिन बढ़ता जाता है। वेदज्ञानमें जिनकी पैठ नहीं, उनके लिये भक्ति ही सुमार्ग, प्रधान शिक्षा और तपस्या है। सती पहले जीवित स्वामीकी पूजा करना सीखती है। क्योंकि अशिक्षित नारियोंके लिये प्रत्यक्ष देवता ही अधिकतर भक्तिके पात्र हैं। हम पहले ही कह आये हैं कि जीवित देवताकी पूजासे ही नारी देवप्रतिमाकी पूजामें लगती है। भक्तिपथमें स्थूल देवताकी ही पहले पूजा होती है। पीछे यही पूजा सूक्ष्म देवपूजामें परिणत हो जाती है। पार्थिव पति-प्रेम ही बढ़कर जगत्पतिके प्रेम तक

पहुँच जाता है। यह जगत्पतिका प्रेम जितना ही पूर्ण होगा उतना ही विस्तृत होकर विश्वव्यापी हो जायगा। क्षमा और दानधर्मसे नारीके प्रेमकी प्रशस्तता प्रकट होती है। स्त्री, अतिथि-अभ्यागतको भगवान् समझकर उनका सत्कार करती है। इस पूजाके साथ और भी उदारता बढ़ती है। जो अनुराग पहले केवल पतिमें ही था वह भगवान्के सब जीवोंमें हो जाता है। सब जीवोंपर जबतक दया नहीं दिखलाई जाती, तबतक भगवान्की जैसी पूजा चाहिए, वैसी नहीं होती। सारांश यह कि संसारका संकीर्ण प्रेम विश्वमें विस्तृत हो जाता है।

जब सतीका प्रेम इस प्रकार फैलकर सब जीवोंमें हो जाता है तब उसका नाम विश्वव्यापिनी "मैत्री" हो जाता है। पहले जो स्त्री इस प्रकारकी मैत्रीकी पात्र होती थी, वही अपने पतिके संग बनमें जाकर मुक्तिकी अधिकारिणी होती थी। याज्ञवल्क्यकी दोनों पत्नियोंमें मैत्रेयी ही ऐसे उदार प्रेम-पथतक पहुँची थी। इसीसे ऋषिने उसको आत्म-ज्ञानकी अधिकारिणी समझकर कहा था—"तुम स्वामीको प्यार करती हो, इसीसे तुम्हारा स्वामी प्रिय नहीं है; तुम जो आत्माको प्यार करती हो, इसीसे तुम्हारा स्वामी प्रिय है। वस्तुतः धन-सम्पत्तिको तुम चाहती हो, इसीसे वह प्यारी नहीं है; बल्कि तुम आत्माको चाहती हो, इसीसे वह प्यारी है। वस्तुतः पुत्रोंको प्यार करती हो, इसीसे वे तुम्हारे प्रिय हैं, ऐसा नहीं। तुम जो आत्माको प्यार करती हो, इसीसे वे तुम्हारे प्यारे हैं"। गार्गी भी ऐसी मैत्री पाकर आत्मज्ञानकी अधिकारिणी हुई थी। जो आत्म-ज्ञान मुक्ति-पथका निदान है, पति-पूजाका अवलम्ब धरकर

क्रमशः देवत्व प्राप्त करती हुई स्त्री उसी पथमें पहुँच जाती थी। इसीसे शास्त्रोंमें पातिव्रत्य धर्म ही नारीका मुक्तिमार्ग बतलाया गया है। पातिव्रत्य साक्षात् भावसे नहीं, गौण भावसे मुक्तिका कारण है। सती पतिके द्वारा मुक्ति पथ तक पहुँच जाती थी। आज उस देवादर्शको छोड़कर हम कितने पतित हो गये हैं!

देवादर्श

स्त्रियोंके सम्मुख देवताका उज्ज्वल आदर्श सदा वर्तमान चला आता है। नारियोंके देवादर्श लक्ष्मी, सरस्वती और भगवती हैं। ऐश्वर्य्य शालिनी नारी लक्ष्मीके समान मृदुता, धीरता और पति-भक्ति पानेके लिये यत्न करती है। बुद्धिमती स्त्री सरस्वतीके समान गुणवती होनेकी इच्छा रखती है। और सभी स्त्रियाँ भगवती बननेकी चेष्टा करती हैं। आज भी हम पति-निष्ठ, धीर, शान्त-प्रकृति, और सुशीला स्त्रीको साक्षात् लक्ष्मी, गुणवतीको साक्षात् सरस्वती और सब पर दया दिखलाने-वालीको अन्नपूर्णा समझते हैं। हम क्यों ऐसा समझते हैं? इसका कारण यही है कि ये देवादर्श हमारे हृदयमें उज्ज्वल वर्णोंसे अङ्कित हैं। महाभारतमें "द्रौपदी सत्यभामाका सम्वाद" पढ़नेसे हमको मालूम होता है कि भारतकी देवियाँ कैसी होती थीं। सत्यभामाने द्रौपदीसे पूछा कि देवी, मैं एक स्वामी-को अपने वशमें नहीं रख सकती। तुम अपने पाँचों पतियों-को किस शक्तिसे, किस मन्त्रबलसे वशमें किये रहती हो? द्रौपदीने उसे वशीकरण मन्त्रका जैसा परिचय दिया वह सुन-कर सत्यभामा दङ्ग हो गई। द्रौपदीने कहा,—बहन! मेरे पास

न कोई शक्ति है और न कोई मन्त्रबल। मैं तन मनसे केवल स्वामीकी शुश्रूषा करना जानती हूँ। मैं पटरानी होकर भी अपने ही हाथसे सारा सांसारिक काम करती हूँ। एकान्त मनसे पाँचों स्वामियोंको समान समझती हुई यथा-साध्य सेवा करके उनको सन्तुष्ट रखती हूँ। मेरी दृष्टिमें पाँचों स्वामी पाँच देवता होकर भी एक ही हैं—जैसे पंचमुख एक महेश्वर हों। मैं अपने ही हाथोंसे घरका झाड़ू-बुहारू करती हूँ और भक्तिसहित ब्राह्मणोंकी परिचर्या—आदर सत्कार करती हूँ। सब सामान स्वयं संग्रह करती हूँ, रसोई स्वयं बनाती हूँ और सभीको भोजन स्वयं कराकर उनकी खोज खबर लिया करती हूँ। एक दण्डके लिये भी मुझे विश्राम नहीं है। मैं सदा अतिथि-सत्कारमें लगी रहती हूँ और सभीको सन्तुष्ट रखनेमें सदा व्यस्त रहती हूँ। ये सब काम अकेली होकर भी सम्हाले रहती हूँ। सत्यभामाने यह सब कुछ स्वयं देखा कि तेजस्विनी द्रौपदी गृहकार्यमें अत्यन्त धीर, व्यवहारमें अत्यन्त नम्र, सम्भाषण और अभ्यर्थनामें अत्यन्त विनयवती है। पाकशालामें वह दमयन्ती और अन्नदानमें वह स्वयं अन्नपूर्णा है। अहा! यह द्रौपदी है या स्वयं लक्ष्मी! मालूम होता है, जैसे दशभुजा भगवती हो! सत्यभामा द्रौपदी-का इस प्रकार पतिवशीकरण मन्त्र और ओषधि अपनी आँखों देखकर द्वारका चली गई।

आदर्श सती

आर्य साहित्यमें नारीका आदर्श तो दिया है; पर क्या

पतीका आदर्श नहीं दिया है? पतिका आदर्श भी आर्य साहित्य-में है। आर्योंने सतीका आदर्श कहाँसे प्राप्त किया था? वह आदर्श सबसे पहले सतीसे मिला था जो अनादि कालसे ही वर्तमान थी और जो पुरुषमें आसक्त थी। देवादर्श ही आर्योंके लिये अनुकरणीय है। आर्य साहित्यने उनके समक्ष देवादर्शको ही प्रकाशित किया है। वह देवादर्श ही प्रकृति–सती भवानी हैं। मनुष्योंके निकट पुरुष केवल प्रेममय सत्तामें ही उपलब्ध होता है। केवल प्रेम ही सारे संसारको मिलाता और अलग करता है। वही प्रेममय सत्ता सारा संसार, विश्वब्रह्माण्ड और प्रकृति है। इसमें पुरुषकी प्रेममयी मूर्ति ही प्रकृति हुई। प्रकृति कबसे है? जबसे पुरुष है। पुरुष अनादि कालसे वर्तमान है, उसी अनादि कालसे प्रकृति पुरुष परस्परासक्त हैं; क्योंकि पुरुषकी सत्तामें ही प्रकृत्तिकी सत्ता है। पुरुषके आश्रित होनेके कारण ही पुरुष विश्वेश्वर कहलाता है और प्रकृति विश्वेश्वरी कहलाती है। विश्वेश्वर प्रकृतिमें ही पैठकर विश्वकी रचना करते हैं, रक्षा करते हैं और नाश करते हैं। विश्वेश्वरकी यही लीला है। यह लीला न रहे तो प्रकृति-पुरुष ठहर ही नहीं सकते। मनुष्योंके निकट यह संसार मायामय है। महामाया यही विश्व-प्रकृति है। महामाया सदा पुरुषके प्रेमाधीन है, सती पुरुषके पैर तले है। वही पुरुष प्रकृतिका सर्वस्व और सर्वाश्रय है। उसको लेकर ही सतीका संसार है—उसीके कार्यमें वह लगी रहती है। पुरुषमें वह सदा स्थिर रहती है–वह सती सदा उसमें आसक्त रहती है। जो सदा वर्तमान है, वही सत् और जो सदा आश्रित भावसे रहती है, वही सती है।

पतिका आदर्श

यही सती आर्योंकी आदर्श सती है और उसका पति ही आदर्श पति है । उसी विश्वेश्वर और विश्वेश्वरीको लेकर हमारे यहाँ पति-पत्नीका संगठन हुआ है । सती और पतिकी आदर्श जोड़ी हर-पार्वती हैं । आर्य कुमारी सदाशिवके समानही पति चाहती है । उसके लिये वैसा पति आशाका स्वर्गसुख और कल्पनाकी प्रतिमा है । शिव जैसे भवानीमें सदा आसक्त रहते हैं, वैसेही आर्य कुमारी अपने पतिको अपनेमें आसक्त देखना चाहती है । इसीसे वे तरुणावस्थामें शिवकी पूजा और व्रत करती हैं । वे शिवसे वर माँगती हैं कि हमें जन्मजन्मान्तरमें तुम्हारे समान पति मिले । यही कौमार-व्रत कालिदासने पार्वतीमें दिखलाया है ।

कुमारावस्थामें हम पार्वतीको शिवकी आराधना करते हुए पाते हैं । सती रूपसे पार्वती शिवको पाकर बड़ी सुखी हुई थी । फिर भी उसी महादेवको पति बनानेके लिये एकान्त अनुरागसे पार्वती तपस्या करने लगी । पार्वतीकी तपस्याका दृश्य कैसा सुन्दर और मनोहर है ! कालिदासके इस दृश्यका वर्णन किसका मन नहीं मोह लेता ! पार्वती कठिन तपस्यासे शिवको अनेक प्रकारसे प्रसन्न करती । कैलास पर पार्वतीकी शिवपूजाके लिये कितनेही फूल फूलते । महादेव पूजाके समय पार्वतीसे फूल लेकर बड़ेही सन्तुष्ट होते । अन्तमें तपस्यासे सन्तुष्ट कर पार्वतीने उसी महादेवको पतिरूपसे प्राप्त किया ।

प्रेममय

आर्य नारीकी ऐसी ही तपस्या, स्वप्न और व्रत होते थे। जिन्होंने सतीकी सृष्टि की थी, उन्हींके लिये पार्वतीकी जैसी तपस्या थी, वैसे सती सृष्टिकारी पतिके लिये आर्य नारीकी भी तपस्या होती है। जो प्रेमके आधार हैं वेही सतीके सृष्टिकर्ता हैं। वे प्रेमसे नारीके हृदयको वशीभूत करके बड़े आदरसे उसे बढ़ाते हैं। नारी उसी प्रेममें भूलकर अपने प्रेम-सर्वस्व-की एकनिष्ठ भावसे छाया बनी रहती है। उसका वैसा आदर, वैसा प्रेम दूसरा और कौन कर सकता है? आदर्श पति अपनी पत्नीको प्रेमादरसे स्वर्ग-सुख पहुँचाता है। उसकी कल्पनामें पति प्रेममय देवता मालूम होता है। उसी देवताकी अनु-गामिनी होकर पत्नी सतीके एकनिष्ठ भावको प्राप्त करती है। उसके पतिका प्रेम जैसा निराकांक्ष, निःस्वार्थ, एकनिष्ठ और पत्नी-गौरवसे परिपूर्ण रहता है, पत्नी उसी प्रेमादर्शको लेकर अपना प्रेम संगठित करती है, अपनी आसक्तिको नियमित करती है और सती होकर केवल पतिमें ही अनुरक्त रहा करती है। मनु महाराजने ऐसे ही पतिको आदर्श पति कहा है। इसी प्रकारके आदर्श पति वशिष्ठ और मन्द-पाल थे। उन्होंने अत्यन्त निकृष्ट कुलमें पैदा हुई अक्षमाला और शारङ्गीको भी माननीय सती रमणी बना दिया था। सत्यवती आदि और भी निकृष्ट कुलमें उत्पन्न हुई कई स्त्रियाँ स्वामीके गुणसे गुणवती और सती हुई थीं। स्त्रियोंकी रक्षा करनेमें जो सयत्न रहते हैं, वे उस सती लक्ष्मीके द्वारा अपने वंश, चरित्र और धर्मकी रक्षा करते हैं। ऐसा हमारे धर्म-

शास्त्रकारोंने कहा है। इसीसे यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है कि पत्नीकी रक्षा होनेके कारण—उसके सती होनेके कारण क्या कुल, क्या चरित्र और क्या धर्म, सब कुछ रक्षित रहता है। महादेव सतीके प्रेममें ऐसे वशीभूत हो गये थे कि एक दिनके लिये भी उन्होंने सतीका सङ्ग नहीं छोड़ा।

आशुतोष

केवल इस अतुलनीय प्रेम और पत्नीरक्षाके कारण ही महादेव हमारे आदर्श-स्थानीय नहीं हैं। महादेव अपने रूप और गुणके कारण आर्य कुमारीका चित्त मोहे रहते हैं। महादेवके समान रूपवान् कौन है? जो प्रेममय है वह सर्वसुन्दर है। राधिकाके नेत्रोंमे काले कृष्ण श्यामसुन्दर मदनमोहन थे। भवानीके नेत्रोंमें वैसेही सुन्दर शिव भी प्रतीत होते थे। अत्यन्त सुन्दर होनेके कारण वे कैलासधाममें ही शोभा पाते थे। वे सारे सौन्दर्योंके सार थे। राधिकाके लिये जैसे श्याम और भवानीके लिये जैसे शिव थे, वैसे ही प्रेममय पति पानेकी लालसा आर्य कुमारियाँ करती हैं। जिस पतिके सामने संसार फीका जान पड़ता है वैसा पति पानेके लिये आर्य कुमारियाँ व्रत करती हैं। सर्वसुन्दर शिवपर ही भवानी मुग्धा रहती है। प्रेममयका ऐसा रूप क्या है? वह शिवका गुण है। उनका गुण सहज-प्रसन्नता है। जो आशुतोष हैं उनके लिये और रूप क्या चाहिए? उनके गुण क्या एक मुखसे कहे जा सकते हैं? आर्य नारियाँ ऐसे ही आशुतोष पति चाहती हैं। पतिमें कितने ही दोष क्यों न हों, पर यदि

पति आशुतोष है तो उसमें सारे गुण हैं। जो एक ही बातसे प्रसन्न हो जाता है उसके साथ रहना क्या है, स्वर्गसुख लूटना है। वह सदा ही प्रफुल्ल और प्रसन्न रहती है। जो स्वतः प्रफुल्ल रहता है उसकी स्त्री भी प्रफुल्ल बनी रहती है। उस पतिपत्नीके लिये संसारमें सदा सुख है। जो थोड़ेमें ही सन्तोष पाता है उसकी सेवा करनेसे भी सन्तोष होता है। ऐसे ही आशुतोष बम भोला शङ्करके समान पति पानेकी आशा आर्य नारियाँ हमेशा रखती हैं।

आनन्दमय

जो थोड़ेमें ही सन्तुष्ट रहता है वह सारा दिन काम करके घर आकर देखता है कि घरवालीने मेरे लिये यह सब कुछ तैयार किया है। इससे उसके आनन्दका ठिकाना नहीं रहता। भोलानाथ सारा दिन संसारकी ही भावनामें लगे रहते हैं। घर आकर देखते हैं कि दिया जल रहा है। सारा घर साफ-सुथरा है। घरमें जहाँ जो कुछ रखनेसे शोभा होती है, वहीं वह चीज रक्खी हुई है। सती सुन्दरी बनकर स्वामीकी अभ्यर्थनाके लिये खड़ी हुई है। अब भोलानाथका क्या कहना है? वे आनन्दसे पागल होकर नाचने लगे। उस आनन्दमयके आनन्दकी सीमाका ठिकाना नहीं रहता। सदानन्द शिवने घरमें आकर देखा कि स्वयं लक्ष्मी विराज रही हैं। जो पति शिवके समान प्रेममय और सदानन्द हैं वे सचमुच अपनी स्त्रीको घरकी लक्ष्मी समझते हैं। जो अपनी स्त्रीको लक्ष्मी समझता है उसके घरमें स्त्री सदा सन्तुष्ट

रहती है । जिस घरमें स्त्रीका मान आदर है, उसी घरमें सदा सुख विराजता है और लक्ष्मीका डेरा पड़ा रहता है । मनु महाराजके मतसे ऐसा ही आनन्दमय पति आदर्श पति कहलाता है ।

अव्यभिचारी

मनुने यह भी कहा है कि "मरण काल तक अव्यभिचारी बनकर रहना स्त्री पुरुषका परम धर्म है । विवाहित स्त्री पुरुष वियुक्त न होकर किसी प्रकार व्यभिचार न करें, इस विषयमें सदा सावधान रहना चाहिए" आदर्श पति प्रेममय, आशुतोष, सदानन्द और पत्नीको लक्ष्मी समझता है । इससे वह आप कभी व्यभिचारमें लिप्त होकर अपनी पत्नीको असन्तुष्ट करना नहीं चाहता । वह अपनी पत्नीको आजीवन अपने साथ रखकर उसकी रक्षा करता है । वह जानता है कि स्त्रीजाति सामान्य दुःसङ्गसे भी सदा रक्षणीय है । क्योंकि इस विषयमें थोड़ी सी भी असावधानी की जाय तो वह स्त्री श्वसुर-कुल और पितृ-कुल, दोनोंको कलङ्कित कर देती है । इससे पति उसे सदा अपने निकट रखता है । जिस घरमें पति-पत्नी सर्वदा एकत्र रहकर संसार-कार्यका निर्वाह करते हैं उस घरमें दोनों एक दूसरेके शासनमें रहते हैं । इससे व्यभिचारकी कोई सम्भावना नहीं रहती । प्रेममयके अङ्कमें प्रेममयी सदा सुखसे रहती है और प्रेममय पति भी प्रेममयीकी सेवा शुश्रूषासे स्वर्ग-सुख भोगता है ।

मनुने व्यभिचारके छः कारण बताये हैं—मद्यपान, असत्

पुरुषका संसर्ग, भर्तृविरह, इधर उधर घूमना, अकालनिद्रा, और परगृहवास। व्यभिचारके विषयमें ये छः कारण जैसे स्त्रीके लिये ठीक हैं, वैसे ही पुरुषके लिये भी संगत हैं। व्यभिचार रोकनेके लिये, ये सब दोष जिसमें पैठने न पावें, इस विषयमें आदर्श पति सदा सयत्न रहें। पुरुष जैसे आप सांसारिक कार्योंमें सदा फँसा रहता है वैसे ही स्त्रीको भी घरकी देखभाल करने, सब सामान दुरुस्त रखने, रसोईका काम करने और ऐसे ही गृहस्थीके अन्यान्य काम निबटाने आदिमें लगाये रखना चाहिए। ऐसा करनेसे ही छः प्रकारके व्यभिचारके दोष घरमें नहीं पैठ सकते।

धर्माश्रय

एक ओर दोषोंका निवारण जैसा कर्तव्य है वैसे दूसरी ओर स्त्रीके प्रेम और भक्तिको बढ़ाना भी कर्तव्य है। इसीसे आदर्श पति सहधर्मिणीको सारे धर्मानुष्ठानोंमें सहकारिणी बनाये रखते हैं। केवल ब्रह्मयज्ञ छोड़कर और चार यज्ञोंमें सहधर्मिणीका साक्षात् सम्बन्ध है। पितृ, देव, भूत और मनुष्य इन चतुर्विध यज्ञोंमें सहधर्मिणी ही सब कुछ करती है। अतिथि-सेवा और अन्नदानमें उसकी सहायता बड़ी आवश्यक है। क्या इससे केवल पतिकी ही प्रवृत्ति और भक्ति चरितार्थ होती है? नहीं। सहधर्मिणीके भी प्रेम और भक्तिका प्रसार होता है। हिन्दूका घर एक प्रधान धर्मक्षेत्र है। उसमें केवल पति-पत्नी ही नहीं, सारा परिवार रहता है। उस धर्मक्षेत्रमें रहनेवाले पति, पत्नी, पुत्र, कन्या, भाई, बहन,

पिता, माता, सभी धर्ममें पक्के होते हैं। जिस घरमें इस धर्मका प्रभाव नहीं है, वह हिन्दूका घर ही नहीं कहा जा सकता। हिन्दू घरमें नित्य, नैमित्तिक, मासिक, वात्सरिक आदि सारे धर्मानुष्ठान करनेसे ही भक्ति, श्रद्धा, प्रेम, क्षमा, आदि उत्कृष्ट वृत्तियोंकी स्फूर्ति होती है। जिस परिमाणमें ये कार्य होंगे उसी परिमाणमें उनकी स्फूर्ति होगी । हिन्दू घरमें धर्मानुष्ठानके निरर्थक स्थान नहीं हैं। उनके द्वारा पति-पत्नीका प्रेम भगवान्‌के प्रेम तक पहुँच जाता है । पतिकी प्रेम-नदी सहधर्मिणीके प्रेमके साथ भगवत्प्रेमके संसार-सागरमें आ गिरती है। भगीरथने गङ्गाको लाकर समुद्रमें मिला दिया था। उसके साथ ही यमुनाका जल भी मिल गया था। गङ्गा-यमुनाकी सम्मिलित धाराने कपिलाश्रममें ऋषिसे पूत होकर सगरवंशका उद्धार किया था। संसारमें पति पत्नीका प्रेम भी पवित्र होकर और विश्वव्यापी भगवान्‌में व्याप्त होकर सब प्राणियोंमें फैल जाता है। प्रेम उस समय आकर मैत्रीमें परिणत हो जाता है। याज्ञवल्क्यने अपनी सहधर्मिणी मैत्रेयीके प्रेमको इसी प्रकार भक्ति पथसे हटाकर मैत्रीमें लगा दिया था। उनका प्रेम ऋषिपूत हुआ था। स्वयं याज्ञवल्क्यने ही संसारमें ऋषित्व लाभ नहीं किया था बल्कि अपनी पत्नीको भी ऋषि-भावमें ला रक्खा था।

देव-संसार

हिन्दुओंके देवता देवी भी संसारी ही हैं। यह सारा संसार ही उनका घर है—संसारका कृत्य ही उनका गृहधर्म

है। एक ही ब्रह्म दो होकर ईश्वर और ईश्वरी हुआ है। वही सगुण निर्गुण हुआ है और वही निर्लिप्त होकर संसारमें लिप्त हुआ है। इसीसे ऋग्वेदमें कहा है कि त्रिपाद विराट् पुरुष एक पादसे संसारमें लिप्त हुआ है। महेश्वर संसारी और संन्यासी हैं। भगवती संसारिणी और त्रैलोक्यतारिणी महा प्रेममयी वैष्णवी हैं। उसी संसारतारिणीके रूपमें भगवती महिषमर्दिनी हैं। महिषमर्दिनीका क्या अर्थ है? माहिषासुर आधा मनुष्य और आधा पशु था। भगवतीने मनुष्यके उस पशुत्व-भावको ही नष्ट किया था। देवबल पशुबलका संहारक है। पशुबलके निकट भगवती अपराजिता है। वही अपराजिता जगत्‌रक्षिणी वैष्णवी शक्ति इस संसारके पाप नष्ट करनेवाली है। इस संसारके व्यापारमें शिवकी प्रेरणा-से भगवती लगी हुई है; और महाशक्ति रूपिणी होकर अव-तीर्ण हुई थी। इसीसे लिखा है—

'या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता"

उसी शक्तिमें निरत महादेव निर्लिप्त संसारी हैं। उनका संसार निष्काम पवित्र क्षेत्र है। ये विश्वपति ही हिन्दूके आदर्श पति हैं। हिन्दू आदर्श पतिको संसारी होकर देवत्व लाभ करना चाहिए।

गुरुजन-सेवा

देवत्व कैसे लाभ किया जा सकता है? पहले ही कह आये हैं कि हिन्दूका घर एक महान् धर्मक्षेत्र है। यह धर्म-क्षेत्र ही देवत्व लाभ करनेकी प्रशस्त भूमि है। इस हिन्दू

संसारमें पति-पत्नी अकेले नहीं हैं। वे चारों ओरसे अपने आत्मीय, स्वजन, कुटुम्ब और गुरुजनोंसे घिरे हुए हैं। पड़ोसी, अतिथि, पशु, पक्षी, सभी इसी हिन्दू संसारमें हैं। यह बड़ा भारी संसार है। यह यूरोपवालोंका केवल पतिपत्नीका संसार नहीं है। हिन्दू संसारमें जितने आश्रित जन हैं वे सभी गृहस्वामी-के प्रेमपात्र हैं। उसके प्रेमके सभी अभिलाषी हैं। उनको बाँट-कर अपना प्रेम सभीको देना होगा, कोई इससे वंचित नहीं होगा। वे केवल अपने पुत्र कलत्रको ही अपने प्रेमके पात्र बनावें, ऐसा नहीं हो सकता। अपने स्त्रीपुत्रका पालन-पोषण कौन नहीं करता? यह तो पशु भी करता है। हिन्दू गृहपतिको मध्यस्थ ही रहना चाहिए। एक ओर उसको पुत्र कलत्र अपने अपार स्नेहसे बाँधे रखते हैं और दूसरी ओर बुड्ढे माँ बाप और गुरुजन उसके सामने वर्तमान रहते हैं। केवल पुत्र-कलत्रमें फँसकर पिता-माता और गुरुजनोंकी उपेक्षा करना महा मूर्खता है। हिन्दुओंकी दृष्टिमें ऐसा कार्य बड़ा ही घृणित समझा जाता है। स्नेह नीचगामी और भक्ति ऊर्ध्वगामिनी है। मिल्टनने कहा है कि मनुष्यके लिये ऊपर उठना जितना कठिन है उतना ही सहज उसके लिये नीचे गिरना है। हिन्दू गृहस्वामीको ऊपर ही देखना चाहिए। यह यूरोपीय समाज नहीं है। वहाँ गुरु केवल गिरजाघरमें ही है। पिता-माता बहुत परे रहते हैं। ऐसा भी होता है कि पुत्रकी गृहस्थीसे उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता। वे अपनी घर-गृहस्थी स्वतन्त्र रखते हैं। हो सकता है कि बाप मर गया हो और माता किसी दूसरे पतिके आश्रयमें रहती हो। गृहपति अपने पुत्र-कलत्रको ही लेकर

सुखसे अपनी घर-गृहस्थी करते हैं। जिस प्रकार हिन्दू गृह-स्वामीको मध्यस्थ बनकर सर्वत्र रहना पड़ता है, उस प्रकार यूरोपीय समाजमें सर्वत्र गृहस्वामीको मध्यस्थ नहीं बनना पड़ता। हिन्दू गृहपति केवल पुत्र-कलत्रमें जकड़ा रहेगा कि अपना देवत्व साधन करेगा? उसको पशुत्वका संहारकर देवत्व लाभ करना होगा। हिन्दूका गृहस्थाश्रम बड़ा ही कठिन स्थान है। केवल ऐहलौकिक सुख भोगनेके लिये ही गृहपतिकी गृहस्थी नहीं है। परकालकी अक्षय स्वर्गकामना करके गार्हस्थ्य धर्मका प्रतिपालन करना होगा। यहाँ महासंयमकी आवश्य-कता है। दुर्बलेन्द्रिय होनेसे इस पवित्र आश्रमका नियम-पालन हो ही नहीं सकता। स्त्री यदि पतिको काम, क्रोध, लोभ, मोह, परहिंसा और कुटिलताके लिये उत्तेजित करेगी तो उनका दमन करना होगा। दमन करके पिता-माता तथा गुरुजनकी सेवा शुश्रूषा द्वारा महातपस्या करनी होगी। मनुने कहा है कि जबतक पिता, माता और आचार्य जीते रहें तबतक स्वतन्त्र भावसे किसी धर्मकर्मका अनुष्ठान नहीं करना चाहिए। प्रति दिन इनकी सेवा शुश्रूषासे ही धर्मकर्म करना समझा जायगा। इनकी सेवामें बिना विघ्न डाले परलोक कामनासे जो कुछ कर्म किया जाय वह इन्हें ही निवेदित कर देना होगा। तीनोंकी ऐसी सेवा करनेसे ही पुरुषोंका कर्तव्य पूरा होगा। यही परम धर्म है। इसके अतिरिक्त जो और धर्मकृत्य हैं वे उप-धर्म कहलाते हैं।

इस कठिन तपस्याके द्वारा ही हिन्दूको देवत्व लाभ करना होगा। पत्नी उसके इस देवभावकी प्राप्तिमें सहायता करेगी।

पत्नीके लिये यह बड़ी कठिन तपस्या है । अपने पुत्रोंकी मोह-माया दबाकर पतिकी सहायता करनी होगी । स्वार्थपरताका यही विसर्जन, भक्तिके निकट स्नेहका बलि, देवताके निकट संसारकी आसक्तिका त्याग करना होगा । इस प्रकार बलि देकर पति-पत्नीके गुरुजनकी सेवामें लगे रहनेसे प्रेम परार्थ-पर होकर भक्तिमें परिणत हो जाता है । लड़कपनसे ही उनकी भक्तिका जो उन्मेष होता है, उस भक्तिको देवसेवामें लगा देना चाहिए । केवल भक्ति ही क्यों, तन-मन-प्राण सभी देवसेवामें लगा देना चाहिए । अपनेको ऐसा समझना चाहिए कि हम उनके अत्यन्त अनुरागी हैं । भगवान् ही संसारके मालिक हैं । हम उन्हींके हैं । ऐसा होनेसे ही सब कुछ होगा । इस परार्थ-पर प्रेम और गुरुजनकी सेवाका उज्ज्वल दृष्टान्त रामचन्द्र, भीष्म और युधिष्ठिर हैं । पिताकी सन्तुष्टिके लिये रामचन्द्रने राजसिंहासन छोड़कर वनवास किया था । वैसे ही भीष्मने आजन्म ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया था । उसी पितृसेवाका कैसा महान् दृष्टान्त युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रकी सेवामें दिखलाया है ! जिस कुरुकुलने कुरुक्षेत्रमें घोर संग्राम उपस्थित कर सबका सत्यानाश कर दिया था, उसी कुरुकुलके पति वृद्ध धृतराष्ट्र और गान्धारी युद्धके बाद भी जीती रहीं । उनकी रक्षाका भार पाण्डवोंपर आ पड़ा । युधिष्ठिरने किस प्रकार उनका अत्यन्त अनुरागके साथ आदर सत्कार किया, इसका विशेष वर्णन महाभारतमें दिया हुआ है । उस सेवा-व्रतमें युधिष्ठिरकी धर्म-परायणता खूब ही स्पष्ट देख पड़ती है । पितृसेवाका ऐसा उदार चित्र क्या यूरोपीय साहित्यमें कभी देख पड़ सकता है ?

दान-धर्म

प्रेम जैसे गुरुजनोंकी सेवामें प्रकट होता है वैसे ही दान-धर्ममें भी प्रकाशित होता है। आर्य साहित्यमें दानधर्मका माहात्म्य खूब गाया गया है। अनेक प्रकारके दान देनेसे गृहस्थके प्रशस्त हृदयमें उदारताका समावेश होता है। अतिथि-सेवासे गृहस्थ पुण्यात्मा होता है। युधिष्ठिरका उदार मन इस दानका माहात्म्य सुननेके लिये सदा उत्सुक रहा करता था। उन्होंने बहुत बार ऋषियों और ब्राह्मणोंसे दान-माहात्म्य कहनेका अनुरोध किया है। दान-माहात्म्य सुनकर परमानन्द प्राप्त किया है। इस प्रकारका आनन्द किसके मनमें हो सकता है? जो दाता नहीं है उसका मन दान-माहात्म्य सुननेमें न लगेगा। वह दान-माहात्म्य सुननेको लालायित न रहेगा। इसीसे युधिष्ठिरने कहा है कि प्राणियोंकी रक्षा करना ही दान है। दानका ऐसा उदार लक्षण किस नीति-शास्त्रमें है? प्राचीन आर्योंके घर ऐसे ही विश्वव्यापी पवित्र दानके क्षेत्र बने हुए थे। उन्हीं दान-क्षेत्रोंके बहुतसे पवित्र चित्र हमारे साहित्यमें चित्रित हैं—अतिथि-सेवाके उदार अनुष्ठानके कितने ही चित्र चित्रित किये गये हैं।

क्षमा

पहले गृहस्थका प्रेम अपने गृह-धर्म द्वारा फैलकर किस प्रकार विश्वव्यापी हो जाता था, इसका यहाँ बहुत कुछ वर्णन हुआ है; और वह भली भाँति समझमें आ गया होगा। पहलेके हिन्दू समाजका जो भाव था वह अब भी न्यूनाधिक रूपसे

हिन्दू समाजमें वर्तमान है। वह भाव एकदम नष्ट हो गया है, यह कोई नहीं कह सकता। प्राचीन हिन्दू संसारका जो कुछ अब बच रहा है, उससे मूल सांसारिक नियम नष्ट नहीं हुआ है। पहले जैसे स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, परिवार, पड़ोसी, अतिथि, दास-दासी, पशु-पक्षी आदि सब कुछ थे, वैसे ही आज भी वे हिन्दू संसारमें वर्तमान हैं। सभी हिन्दूके प्रेमाभिलाषी हैं। पूर्णतः न हो, पर उन्हें आज भी आंशिक रूपमें गार्हस्थ्य धर्म निबाहना ही पड़ता है। इस धर्मको निबाहनेमें जैसी श्रद्धा, भक्ति, प्रीति और ममता देखी जाती है, उससे आपही आप क्षमाका अभ्यास होता जाता है। क्योंकि क्षमाशील हुए बिना गृहस्थी नहीं चल सकती। इस गृहस्थीमें आदर सभीका है। इस आदरके कारण बहुतोंको बहुत बार विचलित होना पड़ा है। गृहस्वामीको उनकी त्रुटियोंको क्षमा करना होगा। बिना क्षमा किये, स्त्री, पुत्र, पिता, माता, गुरु, पुरोहित, अतिथि, मित्र, पशु, पक्षी, किसीका आदर नहीं हो सकता। आदर न होनेके कारण कोई प्रेमके वशीभूत नहीं होता। आदर न होनेसे अपने प्रेमकी प्रवृत्ति भी नहीं बढ़ती। इसी आदरके कारण प्रेमपात्रका दोष नहीं गिना जाता। हिन्दू गृहस्वामीके प्रेम, श्रद्धा, दया और भक्ति उन्हें पक्षपाती बना डालते हैं। वे पक्षपाती होते हैं—संसारके प्रति भी और विश्वव्यापी भगवानके प्रति भी। हिन्दू संसारके समान क्षमा-राज्य और कहीं नहीं है।

वही क्षमा रामचन्द्रमें देखो। कैकेयीने उनका क्या नहीं किया? कैकेयी उनके वनवासका केवल कारण ही नहीं हुई थी; वह एक प्रकारसे पितृघातिनी भी थी। राम-वनवासके समय

दशरथ जिस विषाद-सागरमें डूबे, फिर उससे नहीं निकले। उनकी अकाल मृत्यु हुई। फिर कहो तो कैकेयीने क्या नहीं किया ? किन्तु क्षमाशील रामचन्द्रने चुपचाप सब कुछ सहा, पर कैकेयीके अपराधका कुछ खयाल नहीं किया। क्षमाके कारण रामचन्द्रके हृदयमें सदा शान्ति विराजती थी। उन्होंने कभी कैकेयीको कटु वाक्य नहीं कहा। लक्ष्मणने जब रामचन्द्रको कैकेयीके विरुद्ध उभाड़ा तब उन्होंने लक्ष्मणको ही भला बुरा कहा। रामका यह शान्त स्वभाव सदा अचञ्चल रहा। ऐसा अक्रोध और क्षमा-गुण कभी किसीने देखा है ? ऐसी ही क्षमा युधिष्ठिरकी भी थी। पुत्र-प्रेमसे अन्धे होकर धृतराष्ट्रने पितृहीन पाण्डवोंके साथ ऐसा ऐसा अत्याचार किया जो कभी किसीको नहीं करना चाहिए। पर युधिष्ठिरने कभी कुछ कहा ? कभी उनके व्यवहारमें कुछ अन्तर आया ? उन्होंने सब कुछ सहकर भी धृतराष्ट्रको क्षमा किया—देवताकी सी उनकी सेवा की। महाराज शान्तनु अत्यन्त धीर, सत्यवादी, दानशील और क्षमाशील थे। श्रीकृष्णने शिशुपालको जिस प्रकार क्षमा किया था, वह सबपर विदित है। आर्य पुरुष ही केवल ऐसे क्षमाशील नहीं थे; आर्य नारियाँ भी वैसी ही क्षमाशीला थीं। पञ्चपुत्रहन्ता अश्वत्थामा जब द्रौपदीके निकट लाया गया तब उसने उनपर कैसी क्षमा दिखलाई थी, यह हम पहले ही दिखला चुके हैं। राजा सौदास जब वशिष्ठको शाप देनेको उद्यत हुए तब उनकी क्षमावती स्त्रीने किस प्रकार उत्तेजित होकर उन्हें निवारण किया था, इसका वर्णन वाल्मीकिने शत्रुघ्नसे किया है।

हिन्दू समाजमें क्षमा अलौकिक धर्म नहीं माना जाता। वह मनुष्य-धर्मका एकाङ्ग मात्र है। मनु महाराजने लिखा है-

धृति, क्षमा, दम (विषयमें मन न लगाना) अस्तेय (चोरी न करना) शौच (पवित्रता) इन्द्रिय-निग्रह (इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे रोकना) धी (संदेह दूर करनेवाली बुद्धि) विद्या (आत्मज्ञान) सत्य और अक्रोध—यही धर्मके दस लक्षण हैं।

पहले सभी, विशेषतः ब्राह्मण, इन दस गुणोंसे भूषित होते थे। आज भी जहाँ हिन्दू गृहमें नवीन सभ्यताने प्रवेश नहीं किया है, वहाँ क्षमा ही उनका यथार्थ बन्धन है। किन्तु यूरोपीय समाजकी शिक्षा-प्रणाली और समाज-संगठन स्वतन्त्र है, इससे वहाँ क्षमाका वैसा स्थान नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि वहाँका नीतिशास्त्र भी लौकिक धर्ममें इसकी गणना नहीं करता। देखिये, वहाँकी नीति क्या कहती है—

"To err is human, to forgive is divine",

भगवान् मनुने जिस क्षमाको दशविध मानव धर्मोंमें परिगणित किया है, वह विलायती नीतिमें मानव धर्म नहीं है, देव-धर्म है। स्वयं ईश्वरावतार ईसा ही केवल मृत्युकालमें यह कह सके थे—पिता, मेरे इन हत्याकारियोंको क्षमा करना; क्योंकि ये क्या कहते हैं, इसका ज्ञान इन्हें नहीं है।

इसीसे विलायती साहित्यमें क्षमागुणभूषित लोकचरित्र अत्यन्त दुर्लभ हैं। शेक्सपियरने पोर्शिया और इसाबेलाके मुखसे देवोपम क्षमाका गौरव उद्घोषित कराया है; पर वह कुछ कालके लिये ही मनको मोहित कर सकता है, वह कल्पनाको उत्कृष्ट नहीं कर सकता। कल्पनाको हृदयग्राही बनानेके लिये

क्षमाको लोक-चरित्रमें चित्रित करके दिखलाना चाहिए। धन-लोभी शाइलाकके चरित्रमें जैसे सूदखोरी, निर्दयता, विचार-प्रियता आदि चित्रित है, एञ्जिलाके चरित्रमें जैसे दण्डनीतिका कठोर नियम-पालन अङ्कित हुआ है, उसी प्रकारके लोकचरित्र-में शेक्सपियरने क्षमाको कहीं चित्रित किया है ? शाइलाककी भीषण क्रूरता और निर्दयता चित्रित करनेके समय पोर्शियाकी वक्तृता बहुत मीठी मालूम होती है सही, किन्तु वह क्षणिक है। उसके बाद वह रस नहीं रहता। पहला वेग रुक जानेके बाद जब पाठक स्थिर चित्तसे सब बातें विचारने लगते हैं, तब उनके मनमें यही बात उठती है कि शेक्सपियरने आज एक घृणित यहूदीको और घृणित करनेके लिये ईसाईके मुख-से क्षमाकी बात कहलाई है। पर यह क्षमा कभी ईसाईयोंने भी यहूदियोंपर दिखलाई थी ? यदि ऐसी क्षमा दिखलाई होती तो शाइलाक इतना क्रोध ही क्यों करता ? शाइलाक रुपया वसूल करनेकी नीयतसे तो आया ही नहीं था। वह तो ईसाइयोंके जोर-जुल्म और क्रूर अत्याचारसे पीड़ित यहूदी जातिके क्रोधका बदला चुकाने आया था। ईसाइयोंका पक्ष समर्थन करनेके लिये जैसे पोर्शिया खड़ी की गई थी, वैसे नाटकमें यहूदियोंकी ओरसे पक्षसमर्थन करनेके लिये कोई वकील कहाँ खड़ा किया गया ? यदि इस नाटकको कोई यहूदी कवि लिखता तो घटनाचक्र उलटा ही हो जाता। "वेनिसका बाँका" वा "दुर्लभ बन्धु" मनुष्यलिखित सिंहका चित्र है; ईसाई कवि लिखित यहूदीका घृणाई चित्र है। शाइलाकका विचार ईसाईयोंकी अदालतमें हुआ था। इससे इस चित्रमें पक्षपात

और एकदेशदर्शिताका पूरा परिचय मिलता है। यहूदीके विपक्ष-में ईसाई जैसे दलबद्ध हुए थे, वैसे शाइलाकके पक्षमें यहूदी कहाँ दलबद्ध हुए थे ? नाटकमें उस यहूदी दलका चित्र कहाँ है ? क्या दलबद्ध यहूदियोंने शाइलाकको एक वकील रखनेका परामर्श नहीं दिया ? नाटकमें वैसाही एक वकील शाइलाक-के पक्षमें नहीं रक्खा जा सकता था ? वह वकील पोर्शियाके मुखसे दयाकी बात सुनकर क्या कहता ? वह यह नहीं कहता कि—"तुम ईसाई हो, तुम नृशंस होकर सदा यहूदियों-को पीड़ित करते रहे हो। आज एक दिनके लिये हमारा उत्पीड़न कैसा मालूम हो रहा है ? हम वर्षों तक सहते रहे और तुम एक दिन भी नहीं सह सकते ? बारहो महीने एन्टोनी शाइलाकको घृणाकी दृष्टिसे देखता था और उसे गाली देता आया और आज भी दे रहा है। यहूदियोंके प्रति ईसाइयोंकी सदा घृणा बनी रही। इसीसे ईसाई समाजमें सर्वत्र यहूदियोंका उत्पीड़न दिखाई पड़ता है। फिर कहिये वकील साहब, आज मीठी मीठी दयाकी बातें क्यों कह रहे हैं ? ईसाइयोंने कभी ऐसी दया यहूदियोंपर दिखलाई है ? यदि यह बात नहीं है तो फिर यहूदियोंसे दयाकी आशा कैसी ? हमारी जातिमें क्या दया नहीं है ? तुम्हारे दयाके व्यवहार हमें भली भाँति मालूम हैं। उसी दयाकी बात जब तुम्हारे मुखसे सुनते हैं तब हमें विडम्बना मालूम होती है।" वस्तुतः क्या हम शाइलाकके अमर्ष चित्रमें एन्टोनीकी घृणाका प्रतिबिम्ब नहीं देखते ? शाइलाक क्यों ऐसा हुआ ? शाइलाक क्या ईसाई समाजके उत्पीड़नका फल नहीं है ? जिन ईसाइयोंने यहूदियोंको इतना

सताया, उनके मुखसे दयाकी बात सुनकर यहूदियोंको कैसा मालूम होगा ? ईसाई कविकी कल्पनासे नाटकमें एन्टोनी तो मारा नहीं गया, बल्कि शाइलाकके ही मरनेकी नौबत आई। उलटे लेनेके देने पड़े। अन्तमें ड्यूकने दया करके शाइलाककी जान बख्श दी और उसकी सम्पत्ति जब्त करनेका हुक्म दे दिया ! यहूदीने ईसाई अदालतमें आकर अच्छा फल पाया !

इसीसे मालूम होता है कि पोर्शियाके मुखसे जो क्षमाकी बात निकलती है, वह तीन कारणोंसे नष्ट हो जाती है। (१) क्षमाका कोई चित्र अङ्कित न होनेके कारण कल्पनामें उसका स्थान नहीं है। (२) प्रसङ्गतः शाइलाकके पक्षमें जो बातें मनमें बैठती हैं, उनके कारण पोर्शियाके मुखसे क्षमाकी बातें शोभा नहीं देतीं। और (३) विचारके अन्तमें शाइलाकके प्रति ईसाइयोंका निर्दय व्यवहार हुआ। वस्तुतः क्षमाको प्रबल बनाना कवि-कल्पनाका उद्देश्य नहीं है। आदमी अपनी करनीसे आप कैसे फँसता है, इसी बातको दिखलाना कविकी कल्पनाका उद्देश्य प्रतीत होता है। यह उद्देश्य यथेष्ट सिद्ध हुआ है।

अक्रोध और अहिंसा

क्रोध न रोकनेसे क्षमाका उद्वेग नहीं होता। स्नेह, ममता और प्रेम फैलानेसे क्रोध आपही आप रुकता है। प्रेम क्रोधकी महौषधि है। प्रेमवारिसे क्रोधाग्नि आप ही आप बुझ जाती है। इसीसे हिन्दूका घर अक्रोधका अभ्यास करनेका प्रधान क्षेत्र है। यह ऋषि-प्रतिष्ठित क्षेत्र देवत्व लाभ करनेके लिये

प्रधान अवलम्बन है। देवत्व कैसे प्राप्त होता है, इसके सम्बन्ध-में महाभारतमें लिखा है—

तत्र वै मानुषाल्लोकाद्दानादिभिरतन्द्रितः ॥
अहिंसार्थसमायुक्तैः कारणैःस्वर्गमश्नुते ॥ वन पर्व।

"निरालस होकर अहिंसा और दान आदि करनेसे नर-लोकसे मुक्त होता है और स्वर्गलोक पाता है"।

इसीसे देखा जाता है कि गृहस्थ निरालस होकर दान-धर्म करता है और अक्रोध तथा क्षमाका पात्र होता है। इसी प्रकार धीरे धीरे हृदयमें अहिंसाका सञ्चार होता है। जो अहिंसाके लिये सदा यत्नशील रहते हैं, उनका हिंसा दोष क्रमशः कम होता जाता है। प्रेमके सामान्य प्रसारसे अहिंसा-का उदय नहीं होता। दूसरेके सुखसे प्रेम सुखी होता है। हिंसा केवल अपनाही सुख चाहती है। परार्थपर प्रेम जितना गाढ़ा होता है, उतनाही स्वार्थपर हिंसासे संकोच होता है। जब यही प्रेम विश्वव्यापी होकर समदर्शिताका भाव पैदा कर देता है तब हिंसाका भय नहीं रहता। याज्ञवल्क्यने इस प्रकार जब समदर्शिता प्राप्त की थी तब उन्होंने मैत्रेयीसे कहा था—

"वस्तुतः संसारसे प्रेम होनेके कारण ही वह तुम्हारा प्यारा नहीं है; तुम जो आत्माको प्यार करता हो, इसीसे संसार तुम्हें प्रिय है"।

इस प्रकार कहकर वे संसाराश्रमसे बिदा हो गये थे और वनमें जा बसे थे; क्योंकि उस समय स्वर्ग उनके हाथमें आ गया था और वे नरलोकसे मुक्ति पा चुके थे। उस समय उन्होंने ब्रह्मप्राप्तिके लिये संन्यास धारण किया।

आर्य साहित्यमें अहिंसाकी प्रशंसा शत मुखसे की गई है। श्रीकृष्णके चरित्रमें यह परम धर्म खूब उज्ज्वल रूपसे प्रकट किया गया है। भीष्म, विदुर आदि हिंसाहीन थे। शुक और नारद आदि ऋषिचरित्रोंमें इस अहिंसाका प्रत्यक्ष दिग्दर्शन होता है। वस्तुतः अहिंसा ही हिन्दुओंका प्रधान धर्म है। इस अहिंसासे हिन्दुओंकी प्रकृति क्रमशः कोमलसे कोमलतर और नम्रसे नम्रतर होती जाती है। अहिंसा हिन्दुओंको क्षमाशील करके शान्तिनिकेतन तक पहुँचा देती है। बुद्धदेव इसी शान्ति-मय अहिंसाके अवतार थे। हिन्दू धर्मने उन्हें अहिंसाकी शिक्षा दी थी। बौद्ध और जैन इसी महामन्त्रको लेकर शान्तिस्थापन-में समर्थ हुए थे। केवल ईसाई समाजमें इस अहिंसा धर्मका उतना आदर नहीं देख पड़ता। इसीसे विलायती साहित्यमें अहिंसाके चित्र विरले ही देख पड़ते हैं। उसी साहित्यमें न्याय-परताका जैसी उग्र मूर्ति देख पड़ती है, क्षमाकी वैसी प्रशस्त मूर्ति नहीं देख पड़ती। यह भी कहा जा सकता है कि उसमें अहिंसा-का चित्र नहीं है। आर्य्य साहित्यमें भी सर्वत्र दण्डनीतिके भयानक चित्र देख पड़ते हैं। धर्मक्रोधके कारण पापके कठिनसे कठिन दण्डविधान कहाँ नहीं हैं? किन्तु उसके निकट ही क्षमा और पुण्यकी भी ज्योति छिटकी रहती है।

स्वर्ग

श्रद्धा, भक्ति, प्रेम, क्षमा, अक्रोध और अहिंसाके देवादर्शोंसे हमारा आर्य साहित्य परिपूर्ण है। सब देवताओंका निवास-स्थान स्वर्ग है—स्वर्ग सुखका घर है। आर्य साहित्यमें वर्णित

विषय और कठिन पार्वत्य प्रदेश द्वारा उस स्वर्गमें पहुँचना होता है। ऊपर पहुँचनेकी प्रवृत्ति जब श्रद्धा भक्तिमें परिणत होकर उन्नत होती है तब स्वर्गमें पहुँचना सहज होता है। गृहस्थ आर्य सदा स्वर्गकी ओर देखा करते हैं—स्नेह ममताकी निम्न भूमिमें खड़े होकर ऊपर गुरुजनोंकी ओर भक्तिसे देखते हैं। देवता उनकी दृष्टि अपनी ओर खींचते हैं। आर्य कवियोंने देवताओंको मूर्तिमान बनाकर सर्वत्र ही चित्रित किया है। लक्ष्मी माधुरीमयी स्वर्णप्रतिमा है। वेदमाता सरस्वती पवित्रतामयी और श्वेतवर्ण मोहिनी मूर्ति हैं। भगवती असुरविजयिनी, दशभुजा और शक्तिरूपिणी हैं। संसारकी उत्पत्तिके कारणभूत देवता सूर्य हैं। संसारको घेरे हुए वरुण देव हैं। सब तेजोंके आधार अग्नि हैं। वायु जगत्‌का जीवन है। एक भगवान् ही इन समस्त रूपोंसे वर्तमान हैं। एक अनन्त देव ही अनन्त विभूतिके साथ स्वर्गमें विराजमान हैं। उनकी अनन्त विभूतिका स्वतन्त्र विकाश न देखनेसे उस अनन्त देवकी क्या धारणा हो सकती है? स्वतन्त्र स्वतन्त्र विभूतिके विकाशसे ही वे अनन्त देव ब्रह्माण्डमें ओत-प्रोत भरे हुए हैं। मनुष्यकी दृष्टिमें वह विश्वव्यापी हैं। सामान्य ज्ञान-दृष्टिसे मनुष्य उस अनन्त देवकी धारणा नहीं कर सकता। किन्तु स्वतन्त्र स्वतन्त्र विभूतिकी अनन्त मूर्ति ब्रह्माण्डमें देखकर उन्हें अनन्तरूप समझता है। अर्जुनको इसी विश्वरूपी अनन्त विभूतिका परिचय मिला था। आर्य कवियोंने इसी देवादर्शको लेकर अपने काव्यका अनन्त सौन्दर्य दिखलाया है। आर्योंके नेत्रोंमें वही देवादर्श सदा सोते, जागते,

उठते, बैठते वर्तमान रहता है। आर्यगण दिन-रात उन्हीं देवता-ओंकी पूजा किया करते हैं। वे उनकी मोहिनी शक्तिके वशीभूत रहते हैं—स्वर्गकी ओर देखा करते हैं। उसी स्वर्गकी ओर देखकर रणवीर युद्धमें प्राण देनेके लिये आगे बढ़ते हैं। कौरव और पाण्डव उसी स्वर्गकी ओर देखते हुए घोर संग्राममें प्रवृत हुए थे। माद्री पतिके साथ चितामें जल गई थी। बलि पातालमें पैठे थे। शिविने अकातर होकर अपने अङ्गको टुकड़े टुकड़े कर डाला था। वृहद्‌र्भकने क्रोधहीन होकर अपने पुत्रको ब्राह्मण-सेवाके लिये बलि दे दिया था। स्वर्गमें देवताओंकी सभा कैसी है, इसका वर्णन नारदने युधिष्ठिरसे विस्तारके साथ किया है। इन्द्र, यम, वरुण, ब्रह्मा और कुबेरका ऐश्वर्य उसमें खूब ही जाज्वल्यमान दिखलाई पड़ता है। जो देवराज हैं, उन्होंने किस प्रकार स्वर्गकी प्रधानता पाई है? महाभारतमें लिखा है कि अतुल पराक्रमी देवराज इन्द्रने देवताओंमें प्रधानता पानेकी लालसासे ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान किया था। बिना जितेन्द्रिय हुए देवत्व लाभ करनेका कोई उपाय ही नहीं है। आसुरिक प्रबलता दबाकर जितेन्द्रिय और संयत हुए बिना स्वर्ग नहीं मिलता।

प्राणप्रतिष्ठित देवता

हमारे आर्य साहित्यमें ऐसा ही स्वर्गधाम है। आर्य कवियोंने सारे देवादर्शोंको मूर्तिमान कर दिखलाया है। ये देवता हैं, इसका अर्थ यही है कि मानवोंकी दृष्टिमें ये देवादर्श जीवित मूर्तिसे सदा विराजते रहते हैं। जिन्होंने उन देवादर्शोंको भुला दिया है उनकी देवोपासना नहीं होती, उनकी

देवपूजा धर्मके मृत शरीरकी पूजा है । आदर्श खो देनेसे हम देवताओंके प्राणशून्य मृत देह देखते हैं । जो देवताओंकी प्रतिमाओंमें प्राणप्रतिष्ठित देवशक्ति देखते हैं, वे ही देवादर्श भी देखते हैं । जिस मन्त्रसे देवप्रतिमाकी प्राणप्रतिष्ठा होती है उस मन्त्रसे देवादर्श जीवित हो उठता है । प्राणप्रातिष्ठा क्या है ? ध्यानमें देवताकी जीवित शक्तिमयी मूर्तिको अनुभव करना है । इसी जीवित मूर्तिको हृदयमें धारण कर हिन्दू देवोपासना करते हैं ।

देवचरित्र

प्राणप्रतिष्ठा करके आर्योपासक उस देवप्रतिमामें अनन्त देवको देखता है । सभी देवता अनन्त देवकी अनन्त विभूतिके परिचायक होकर उपासकोंके हृदयमें उदित होते हैं । आर्य कवियोंने इसी देवमूर्तिके ऐश्वर्यसे आर्य साहित्यको परिपूर्ण कर रक्खा है । देवप्रेम, देवशासन, देवबल और देवविभूति असंख्य रूपसे आर्य साहित्यमें देदीप्यमान होती है । सभी मूर्तियाँ उस सगुण ईश्वरकी मूर्तियाँ हैं । प्रेममूर्ति कभी प्रचण्ड रूप धारण कर अधर्मका दण्डविधान करती है, कभी अत्यन्त मोहिनी मूर्तिसे श्यामसुन्दरके रूपमें गोपियों और भक्तोंकी प्रेमपिपासा परितृप्त करती है और कभी वह अन्नपूर्णाके रूपमें पुरुषरूपी विश्वात्माको अन्न और प्रेम वितरण करती है । ये सब देवता अनन्त देवकी विभूतिके अंशावतार हैं । अनन्तदेव पूर्ण विभूतिसे राम और कृष्णके रूपमें आर्य साहित्यमें विराजते हैं । आर्य साहित्यको छोड़कर किस जातिके काव्यके कार्यक्षेत्रमें भगवान अवतीर्ण हुए हैं ? यूरोपके किस काव्यमें राम और कृष्णके

चरित्रके समान भगवान्‌के चरित्रका प्रशस्त चित्र अङ्कित हुआ है ? किस काव्यके कार्यक्षेत्रमें ऐसा भगवच्चरित्र हृदयको वशीभूत करता है ? वह वशीकरण भगवान्‌के अलौकिक व्यापारसे होना चाहिए। किस काव्यने मनुष्योंके मनमें एक ही समय भय और गम्भीर भावका संचार किया है और यह भासित हुआ है कि ब्रह्माण्डमें अलौकिक शक्ति धारण कर भगवान् मूर्तिमान् होकर काम करते हैं ? भगवान् ब्रह्माण्डके कार्यक्षेत्रमें प्रेमवश अवतीर्ण होकर संसारकी भलाईके लिये न जाने कितने कार्य करते हैं। पापीको यथोचित दण्ड देकर पृथ्वी परसे पापका निवारण करते हैं। पुण्यात्मा उनका दर्शन करके स्वर्ग जाते हैं। पाठक इन सारी कल्पनाओंको मानसकी दृष्टिसे देखते हैं। देखकर काव्य-जगत्‌में परलोकको प्रत्यक्ष करते हैं। भगवानका सांसारिक शासन और पालन देखकर चकित होना पड़ता है। इससे काव्य-सृष्टिका हाथों हाथ फल मिलता है। उन व्यापारोंसे कल्पना परिपूर्ण हो जाती है। आदमी भगवानकी अद्भुत लीला और क्रिया कलापोंको देखकर चकित और स्ताम्भित हो जाता है। इस भगवत्प्रेम रससे आर्योंके काव्य खूब सराबोर हैं। यह रस यूरोपीय साहित्यमें नहीं है। मिल्टन, वार्जिल, डान्टे, होमर आदि कवि भगवान्‌का अवतार काव्यमें कराकर पृथ्वीके कार्यक्षेत्रमें उन्हें मूर्तिमान् करके नहीं दिखा सके हैं। उनके काव्य पढ़नेसे देवशक्तिका जैसा अनुभव होना चाहिए, वैसा नहीं होता। होगा क्या ? उन्हें तो भगवान्‌की सारी विभूतियोंका ज्ञान ही नहीं है। वेदमें जैसे ब्रह्मज्ञान परिपूर्ण है वैसे यूरोपमें या किसी अन्यान्य देशमें ब्रह्मज्ञान परिपूर्ण नहीं है—

उनमें ब्रह्मविद्या पूर्णताको प्राप्त नहीं हुई है। इस वैदिक ज्ञानका जो सामान्य अंश और देशोंमें गया है वह यथेष्ट नहीं है। उससे कविकी सृष्टि नहीं हो सकती। काव्य-सृष्टिके लिये जिस आयोजन और सामग्रीका प्रयोजन है, वह केवल वेद-वेदान्तमें ही है। उस वेदमें देवताओंका विराट् राज्य है। स्वर्गकी सुन्दर कान्ति उज्ज्वल रूपसे भासित होती है। वेदान्तमें देवता और स्वर्गका नाम नहीं है। वहाँ ब्रह्मकी निर्मल और पवित्र चैतन्य मूर्ति ही प्रकाशित होती है। क्योंकि वेदमें क्रियाकाण्डका ही अधिकार है। उसका फल स्वर्ग है। वेदान्तमें ब्रह्मज्ञानका अधिकार है और मुक्ति ही उसका परिणाम है।

ऋषि-चरित्र

आर्य साहित्यमें जो देवादर्श विद्यमान है, क्या मनुष्य उसको पा सकता है? यूरोपमें ईसाने कहा है कि उसे कोई नहीं पा सकता; पर वैदिक आर्योंने कहा है कि पा सकता है। आर्य ऋषियोंने कहा है कि मनुष्यमें ही देव छिपे हुए हैं। ऊपरका आवरण हटा देनेसे ही देवता प्रकट हो जाते हैं। मनुष्यके शरीरमें ही आत्मरूपसे परमेश्वर विराजमान हैं। उस आत्माका मोहावरण हटनेसे ही उसकी दिव्य ज्योति प्रकाशित हो जाती है। मनुष्य देवत्व प्राप्त कर सकता है, इसका प्रमाण आर्य ऋषियोंने दिया है। ऋषियोंने तपोबलसे असाध्य साधन किया है। सामान्य मनुष्यसे देवशक्तिका कैसे आविर्भाव होता है, यह वे दिखा गये हैं। इसीसे आर्य साहित्यमें ऋषिचरित्रका समावेश किया गया है। इस ऋषिचरित्रसे प्रकट

होता है कि मनुष्योंके लिये देवत्व लाभ करना साध्यातीत नहीं है। हमारे दोनों महाकाव्य अनेक ऋषिचरित्रोंसे परिपूर्ण हैं। मनुष्योंके दैवी शक्ति प्राप्त करनेके वे अखण्डनीय प्रमाण हैं।

मानव-चरित्र

आर्य साहित्यमें केवल देवता और ऋषि ही नहीं हैं। उनमें साधकों और भक्तोंके भी चरित्र भरे पड़े हैं। एक ओर देव-चरित्रका महान् उच्च आदर्श है और दूसरी ओर ऋषि-चरित्रके तपोबलका प्रभाव उस आदर्शकी सिद्धता दिखला रहा है। एक स्थान पर मनुष्य उसी तपस्यामें लगा हुआ दिखाई पड़ता है। शत्रुओंको वशकर कठिन संयम प्राप्त करनेके लिये तपस्या की जाती है। इसी तपोबलसे ध्रुवने देवत्व प्राप्त किया था। तपोबलसे ही भक्त प्रह्लाद संसारमें चिरस्मरणीय हो गये हैं। ययातिको, आत्म-गौरव और अहङ्कार प्रबल होनेके कारण, स्वर्गसे भ्रष्ट होना पड़ा था और मृत्युलोकमें फिर भी तपस्या करनी पड़ी थी। युधिष्ठिरको कठिन साधना करने और भीष्मके सारगर्भ उपदेश सुनने पर भी, थोड़ासा अहङ्कार बच रहनेके कारण कृष्णकी कड़वी बात सहनी पड़ी थी। महाभारत भरमें युधिष्ठिरका चरित्र धर्मकी उग्र तपस्यासे परिपूर्ण देख पड़ता है। युधिष्ठिरने ब्राह्मणों और ऋषियोंके समाजमें बैठकर उनके उपदेशपूर्ण वाक्योंसे अपनेको शुद्ध और शान्त बनानेकी बराबर चेष्टा की है। तपस्याके प्रभावसे धर्मव्याधने कैसा देवत्व लाभ किया है, इसका वर्णन महाभारतमें ही दिया हुआ है। धर्मव्याधने अपने घरमें ही

अपने वृद्ध माता-पिताको देवताके समान प्रतिष्ठित करके भक्ति और प्रेमका व्रत धारण किया था। नवीन तपस्वी कौशिकको उसने इसी पितृभक्तिका देवादर्श दिखलाया था। उसने दिखलाया था कि हमारे वृद्ध माता-पिता किस प्रकार प्रेम और भक्तिके सिंहासन पर बैठकर देवपूजासे देवोपम हुए हैं। कौशिक उसकी प्रगाढ़ भक्ति प्रत्यक्ष देखकर अपने माता-पिताकी पूजाके लिये घर लौट आये। सती ब्राह्मणीने इसी व्रतकी शिक्षाके लिये उन्हें धर्मव्याधके घर भेजा था। ब्राह्मणी एकान्त भावसे सतीव्रतकी तपस्यामें लगी हुई थी। कुन्ती, गान्धारी आदि सभी स्त्रियाँ व्रतधारिणी तपस्विनी थीं।

आर्य साहित्यमें जो मानवचरित्र चित्रित हुए हैं वे सामान्य मनुष्योंके चरित्र नहीं हैं। वे तपोव्रतधारी, देवत्वलाभके प्रयत्नशील मनुष्योंके चरित्र हैं। उनके स्पष्ट रूपसे प्रकट होनेके लिये पास ही राक्षस, दैत्य और दानवोंके भी चरित्र अंकित हुए हैं। ये पापचरित्र भी मानवचरित्र ही हैं; पर वे ऐसे मानवोंके चरित्र हैं जिनमें शत्रुकी ही प्रबलता है। इन्द्रियोंके वशीभूत होकर मनुष्य कैसे संयम छोड़ देता है और शत्रुओंका दास होकर कैसे स्वेच्छाचारी बन जाता है, यही उस दानवचरित्रमें प्रकाशित किया गया है। देव, ऋषि, मनुष्य और दानव इन्हीं चारोंके चरित्र आर्य साहित्यमें चित्रित किये गये हैं।

आर्य साहित्यमें जो मानवचरित्र दिखलाया गया है वही यथार्थ मानवचरित्र है। वह रिपुप्रबल मानवचरित्रसे कहीं उत्तम है। उसमें देवत्वका क्रमशः विकाश होता है—उसमें मनुष्य

इन्द्रिय-संयम और मनकी एकाग्रता साधन करके विश्वप्रेमकी ओर बढ़ता हुआ देख पड़ता है। देवता भी संसारी हैं। उनके भी पुत्र-कलत्र हैं। किन्तु वे संसारी होकर भी विश्वरक्षा करनेमें लगे हुए हैं। इसी कामके लिये उनके पुत्र-कलत्र हैं। उनके विश्व-व्यापी प्रेमका चित्र आर्य साहित्यमें खूब ही चित्रित है। उसी आदर्श पर मनुष्य-चरित्र संगठित हुआ है। देवत्व प्राप्त करनेका अर्थ प्रेम फैलाना है। यही प्रेम फैलाना बड़ी कठिन तपस्या है। इसी तपस्याके प्रभावसे प्रेम भक्तिका आश्रय लेकर जीवित गुरुजनोंमे, जीवित गुरुजनों ही में क्यों, श्राद्ध तर्पण आदिसे मृत गुरुजनोंमें भी फैलता है। फिर गुरुजनोंसे वह प्रेम भग-वान्‌में समर्पित होता है और वहाँ होकर सभी सांसारिक जीवोंमें व्याप्त हो जाता है। क्योंकि आर्य धर्ममें भगवान् सर्वव्यापी हैं—वे समस्त ब्रह्माण्ड-स्वरूप होकर विराजते हैं। जब ऐसे विश्वरूपी भगवान ज्ञान-दृष्टिसे प्रत्यक्ष होते हैं, तब भक्त इस प्रकारकी स्तुति करने लगते हैं—

"पश्यामि देवांस्तव देव देहे।
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ॥
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ—
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ॥
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं।
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप"